

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती



मनीष कुमार



Rajw

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत
महर्षि दयानंद सरस्वती

समकालीन परिस्थितियां और आरंभिक जीवन

भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी को पुनर्जागरण युग माना जाता है। युगों-युगों से विद्वानों, महापुरुषों की इस भूमि पर इस कालखंड में अनेक महापुरुष जन्मे। उन्होंने उच्च व आदर्श विचारों से मानवजाति को विकास का मार्ग दिखाया। धर्म व संस्कृति की रक्षा की तथा अन्याय व अधर्म का घोर विरोध किया। भारतीय संस्कृति के आदर्शों व मूल्यों के प्रसार-प्रसार में अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया।

ऐसे ही महापुरुषों की श्रेणी में महान व्यक्तित्व वाले महर्षि दयानंद सरस्वती का नाम भी अग्रणीय है। उन्हें राष्ट्रीय पुनर्जागरण का पुरोधा, स्वराज्य का प्रथम मंत्रदृष्टा तथा सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय व वैदिक क्रांति का अग्रदूत कहा जाता है। उनके द्वारा भारतीय हिंदू सभ्यता व संस्कृति को बचाने हेतु अनेक प्रयास किए गए।

उन्होंने समाज में एक नई वैचारिक क्रांति का बीज बोया और उसके फलने-फूलने में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। इसलिए वैदिक संस्कृति के प्रबल समर्थक दयानंद सरस्वती को 'भारत का मार्टिन लूथर' भी कहा जाता है। उन्होंने सदैव स्वराज्य, स्वदेशभक्ति तथा स्वधर्माचरण का समर्थन किया। इसलिए वे भारतीय संस्कृति के शलाका पुरुष माने जाते हैं।

देश, काल और वातावरण

दयानंद का जन्म उस समय हुआ था, जब भारत अंग्रेजों का उपनिवेश था और पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। उस समय लार्ड एम.हर्स्ट भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रतिनिधि थे। रियासतों के राजा-महाराजा अंग्रेजों के चाटुकार बन चुके थे और भोगविलास में मस्त थे।

सर्वत्र अज्ञानता, गरीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास व पाखंड का अंधकारमय साम्राज्य था। ईसाई धर्म प्रचारक भारत की सांस्कृतिक व धार्मिक विरासत तथा

आध्यात्मिकता का उपहास उड़ाकर लोगों को ईसाईयत के रंग में रंगते जा रहे थे। देश में अनेक पंथ, संप्रदाय तथा मत पैदा होते जा रहे थे। लोग गौरवशाली आदि-वैदिक धर्म से विमुख होने लगे थे। सत्य और ज्ञान का प्रकाश अपनी दमक खोने लगा था।

किंतु गुजरात राज्य तब भी आश्चर्यजनक तरीके से पाश्चात्य ब्रिटिश प्रभाव से बचा हुआ था। किंतु वहां सामाजिक कुरीतियों की जड़ें काफी गहरी थीं लेकिन वहां भारत की वैदिक सभ्यता व संस्कृति अपने अस्तित्व को बचाए हुए थी। ऐसे वातावरण में ही दयानंद का पालन पोषण हुआ। उनके जन्म के दो वर्ष बाद उनकी बहन का भी जन्म हुआ और उन्हें खेलने के लिए एक खिलौना सा मिल गया।

जन्म और परिवार

महर्षि दयानंद सरस्वती का जन्म फाल्गुन बदी दशमी संवत् 1881 विक्रमी अर्थात् 12 फरवरी 1824 ई. को शिवरात्रि के दिन हुआ था। उनके पिता का नाम अंबाशंकर था। उन्हें कृष्ण, कर्षण तिवारी तथा कर्षणजी भी कहा जाता था। उनके पिता एक बड़े भूस्वामी थे। वह अत्यंत धर्मनिष्ठ व वेदपाठी औदीच्य ब्राह्मण थे।

साथ ही उन्होंने वेदों का गहन अध्ययन किया था। वह काठियावाड़ (वर्तमान गुजरात) के मौरवी राज्य स्थित टंकारा नामक गांव के निवासी थे। इस राज्य का राजा हिंदू था, जहां अधिकतर जनसंख्या ब्राह्मणों की थी। अंबाशंकर इसी राज्य में एक बड़े महत्वपूर्ण पद पर आसीन थे और ग्रामकर एकत्र कर राजा के खजाने में भेजा करते थे। उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी।

मौरवी राज्य तत्कालीन दुर्गाधरा राज्य के समीप तथा महुकांटा नदी के किनारे बसा एक समृद्ध प्रदेश था। राजदरबार में अंबाशंकर का बड़ा सम्मान था। उत्तर भारत में जो पद तहसीलदारों का होता था उन्हें वैसा ही पद प्राप्त था।

दयानंद की माता का नाम यशोदा था। दयानंद के पिता अंबाशंकर और यशोदा दोनों ही भगवान शिव के अनन्य भक्त थे। इसलिए उन्होंने अपने नवजात शिशु का प्रथम नाम मूलजी रखा। बाद में इन्हें मूलजी के अलावा मूलशंकर तथा दयालजी भी पुकारा जाने लगा था। माता-पिता दोनों ही प्रायः शिवरात्रि का उपवास रखते थे और शिवपुराण भी सुनते थे। वे प्रायः नियमित रूप से कीर्तन और भजन में समय बिताते थे। वह दान-दक्षिणा से दीन-दुखियों की सेवा भी करते थे।

शिक्षा-दीक्षा

उनका परिवार शैव धर्म का अनुयायी था। माता-पिता से धार्मिक परिवेश उन्हें विरासत में मिला। उस समय भारतीय पश्चिम की विद्या, बुद्धि, विज्ञान तथा तर्कमुक्त चिंतन के संपर्क में आ चुके थे, किंतु इस नवचेतना को स्वीकार करना उनके लिए कठिन प्रतीत हो रहा था। फिर भी दयानंद का परिवार पाश्चात्य परिवेश से स्वयं को बचाकर वैदिक धर्म का पालन कर रहा था। उनके पिता अधिक गरीब नहीं थे, पर अधिक धनिक भी नहीं थे। अतः बालक दयानंद को किसी अच्छी पाठशाला में जाने का अवसर नहीं मिल सका।

ऐसे धार्मिक परिवार के वातावरण का बालक पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। समृद्धि के पालने और वैदिक संस्कृति के बीच उनका पालन पोषण किया जाने लगा तो उनकी भीतर की ज्ञान तृष्णा भी तीव्र होने लगी।

अपने नाम के अनुरूप वह बड़े मेधावी व प्रतिभाशाली थे। उनके पिता स्वयं वेदों के ज्ञाता और संस्कृत को प्रकांड पंडित थे। मूलशंकर के पांच वर्ष की आयु में पहुंचते ही उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध किया गया। उनके पिता ने उन्हें शैव संप्रदाय के नियमों का पालन करने के लिए निर्देशित किया और संस्कृत की शिक्षा दी।

वह माता-पिता के साथ शिवालय जाते और पूजा अर्चना भी करते थे। पिता के सान्निध्य में वह शुक्ल यजुर्वेद का गहन अध्ययन करने लगे थे। पुत्र की प्रतिभा व लगन से माता-पिता दोनों ही प्रसन्न थे। शिव के प्रति उनका भक्तिभाव भी परिपक्व होने लगा था। वे भी माता-पिता के साथ बैठकर शिवपुराण का पाठ सुनते थे। उनके मुख मंडल पर दिव्य ज्योति की चमक दिखाई पड़ती थी। उनकी आंखों में अद्भुत चमक थी तो वाणी में ओज व आकर्षण। उनकी बुद्धि भी प्रबल व तीव्र थी। वह एक ज्ञान पिपासु और बहुत कुशाग्र बुद्धि वाले बालक थे। उन्हें जो कुछ पढ़ाया जाता उसे शीघ्र ही कंठस्थ कर लेते थे।

पाखंड का त्याग और जीवन में नई दिशा

1838 ई. में बालक दयानंद की आयु 14 वर्ष हो चुकी थी। ज्ञान में वृद्धि के साथ-साथ उनकी जिज्ञासा भी बढ़ने लगी थी। अब तक वह संपूर्ण यजुर्वेद के अलावा अन्य वेदों के कई भागों तथा व्याकरण का भी गहन अध्ययन कर चुके थे। उनकी शिक्षा लगभग पूरी हो चुकी थी।

उसी वर्ष उनके पिता ने उन्हें शिवभक्ति के प्रति आस्थावान होने का आदेश

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/09

दिया। उन्हें शिव के प्रतीक मिट्टी के शिवलिंग की पूजा करने को कहा गया। माघ बदी 13 (जनवरी-फरवरी 1838) को फाल्गुन मास की त्रयोदशी को शिवरात्रि का व्रत आया। शिवगाथा सुनाने के पश्चात् पिता ने उन्हें व्रत रखने और शिवमंदिर में जागरण करने को कहा। उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन किया और गांव के बाहर स्थित शिवमंदिर में चले गए। वहां गांव के अन्य लोग भी अपने बच्चों को लेकर पहुंचे हुए थे।

शिवरात्रि जागरण को तीन-तीन घंटे के चार प्रहरों में बांटा गया था। पहले दो प्रहर सभी ने खूब जोर-शोर से जागरण किया, किंतु धीरे-धीरे पुजारियों सहित कुछ लोग मंदिर के बाहर चले गए और मंदिर के प्रांगण में जाकर सो गए। दयानंद को बताया गया था कि उस रात को सोने से भक्त अपनी भक्ति को खो देता है। इसलिए दयानंद बार-बार अपनी आंखों को ठंडे पानी से धोते रहे, ताकि उन्हें नींद न आ सके। कुछ देर बाद उनके पिता के साथ-साथ बाकी भक्त भी सो गए और दयानंद अकेले ही जागते रह गए।

दयाशंकर एकटक शिवलिंग को निहार रहे थे। उन्हें प्रतीक्षा थी कि शायद शिवरात्रि को भगवान शिव पार्थिव शिवलिंग में से प्रकट होंगे। सहसा एक चूहा अपने बिल से निकला और शिवलिंग के इधर-उधर विचरने लगा। दो-तीन बार घूमने के पश्चात् वह शिवलिंग पर चढ़ गया और उस पर भेंट स्वरूप चढ़ाए गए अक्षत् (प्रसाद आदि) को खाने लगा।

यह दृश्य देख दयानंद के हृदय की वीणा के तार झनझना उठे। उनके मस्तिष्क में कई प्रश्न कौंधने लगे। उन्होंने स्वयं से कहा कि क्या यह संभव है? क्या यह वही शिव हैं, जिन्हें लोग पूजते हैं, जिन्हें लोग विश्वनाथ और प्रलयंकर कहते हैं, जो मेरे सम्मुख अपने बैल पर सवार हैं, जो धार्मिक ग्रंथों के अनुसार सोते हैं, खाते-पीते और चलते हैं?... क्या ये वहीं शिव हैं जो हाथों में त्रिशूल धारण करते हैं, डमरू बजाते हैं और लोगों को शाप देते हैं?... क्या ये वही शिव हैं जिन्हें कैलाश का देवता कहा जाता है, सर्वशक्तिमय तथा उन गाथाओं के नायक हैं जिनके बारे में पुराणों में पढ़ते हैं...?

नहीं...ये शिव नहीं हो सकते। जब ये अपने ऊपर से चूहे को नहीं भगा सकते तो मृत्युंजय कैसे हो सकते हैं?... मैं सच्चे शिव की खोज करूंगा, उनकी खोज में मैं अपने जीवन को मिटा दूंगा...

वह अपने इन विचारों को अधिक देर तक दबाकर नहीं रख सके। अतः उन्होंने अपने पिता को जगाया और वही दृश्य दिखा कर प्रश्न किया, "क्या मंदिर

में स्थित यह पाषाण प्रतीक ही पुराणों में बताए गए त्रिलोकेश्वर है?...यह असंभव है...किसी जीवन्त देवता को प्रतीक रूप में मानना असंभव है। जिसमें अपने ऊपर बैठे उस चूहे को भी नहीं भगाने की शक्ति नहीं है, जो उन्हें भ्रष्ट कर रहा है। फिर यह शक्तिनाथ कैसे हो सकते हैं?... ”

दयाशंकर के इस प्रश्न पर पिता ने आश्चर्य से पूछा, “तुम यह क्यों पूछ रहे हो?”

पिता ने उन्हें समझाया कि भगवान शिव के रूप में इस शिवलिंग को पवित्र ब्राह्मणों द्वारा बनाया गया है, अतः यह शिवलिंग स्वयं भगवान बन चुका है। इस कलयुग में भगवान शिव प्रकट नहीं होते, इसलिए उनके भक्तों द्वारा इसे ही प्रतीक मानकर पूजा जाता है मानो स्वयं शिव की ही पूजा की जा रही हो।

पिता का यह उत्तर उनकी जिज्ञासा को शांत नहीं कर सका। यहां तक कि पिता की डांट-डपट भी व्यर्थ ही रही। बालक दयाशंकर भूख और थकान से कमजोरी अनुभव कर रहे थे। अतः उनके आग्रह करने पर पिता ने एक सिपाही के साथ उन्हें वापस घर भेज दिया, किंतु साथ ही उपवास न तोड़ने की चेतावनी भी दी।

मूलजी अर्थात् दयाशंकर सोचने लगे कि जो शिव अपने ऊपर से एक छोटे से चूहे को नहीं हटा सकते वे शत्रुओं से अपने भक्तों की रक्षा कैसे करेंगे...? पत्थर का शिवलिंग सत्य तो नहीं। यदि सत्य होता तो चूहा उस पर बैठकर अक्षत कैसे खा सकता था? तो फिर सत्य क्या है?... पिता द्वारा दिए गए उत्तर से उनकी तृष्णा शांत नहीं हुई थी।

उन्हें मूर्तिपूजा पाखंड लगने लगी और मन में शिवभक्ति के प्रति अनास्था पैदा हो गई। उनके अंतर्मन में एक संघर्ष उत्पन्न हो चुका था। घर पहुंचने पर उन्होंने मां से भोजन के लिए कहा और मां द्वारा दी गई शकरकंदी से अपनी भूख मिटाई। इस दौरान उन्होंने मां को भी उस सारी घटना के बारे में बताया और वास्तविक शिव को समझने का आशीर्वाद प्राप्त कर सो गए।

अगली सुबह उनके पिता वापस आए। वह उनके व्रत तोड़ने की बात जानकर बहुत क्रोधित भी हुए। उनकी नजर में यह एक अपराध था जो दयानंद ने किया था। लेकिन अब भी दयानंद अपने विचारों पर अडिग थे। वे अब भी पार्थिव शिवलिंग व महादेव को एकरूप मानने को तैयार नहीं थे। अतः उन्हें व्रत तथा पूजा करने का कोई औचित्य नहीं लगा। इसलिए उन्होंने नियमित पूजा-पाठ करने का विरोध किया और वास्तविक शिक्षा-ज्ञान की प्राप्ति पर जोर दिया।

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/11

उनकी इस बात का मां तथा दयानंद के चाचा ने भी समर्थन किया। अंततः उनके पिता को दयानंद की नियमित शिक्षा प्राप्ति की बात को मानना ही पड़ा।

तत्पश्चात् वह पिता की आज्ञा लेकर जमींदारी का काम संभालने चल दिए किंतु उनके मन में सच्चे शिव की प्राप्ति की लगन स्थापित हो चुकी थी। उनके इसी विचार ने उनके चिंतन को एक नई दिशा प्रदान की।

मूलशंकर ने अपना यह प्रश्न कई अन्य विचारकों व विद्वानों के समक्ष भी रखा, किंतु उनका कोई भी उत्तर मूलशंकर की समस्या का निवारण न कर सका। एक वर्ष बाद दूसरी शिवरात्रि भी आ गई, किंतु मूलशंकर का प्रश्न यथावत् ही बना रहा। इससे उनके मन की व्याकुलता बढ़ती चली गई, जिसने शनैः-शनैः एक विद्रोह का रूप धारण कर लिया। दूसरी शिव-रात्रि पर भी मूलशंकर को अपने प्रश्नों के उत्तर नहीं मिले।

बहन की मृत्यु से जन्मा एक और प्रश्न

मूलशंकर की ज्ञान पिपासा वेदांत अध्ययन के साथ-साथ गहरी होती चली गई। सोलह वर्ष की अवस्था तक कई दार्शनिक व खोजी प्रश्न उनके मन में पैदा होने लगे थे, जिनका वह सही उत्तर चाहते थे, किंतु कोई भी उनके प्रश्नों का सही व सटीक उत्तर न दे सका था। इसलिए उत्तर न मिलने पर उनका युवामन प्रायः अधीर हो उठता था।

धीरे-धीरे योगाभ्यास भी उनकी दिनचर्या का नियमित हिस्सा बन चुका था। फलस्वरूप उनका मुखमंडल तेजवान व आंखें ज्ञानरूपी प्रकाश से चमकती रहती थी। वह नियमित व्यायाम करते थे, अतः शारीरिक रूप से भी उनकी शक्ति बढ़ती जा रही थी, किंतु उनका मस्तिष्क बिना किसी आकर्षण के केवल सत्यशिव को तलाशता रहता था।

एक बार रात्रि में वह अपने किसी संबंधी के घर किसी विशेष अवसर पर गए हुए थे। वहां नृत्योत्सव का आयोजन किया गया था। वहां पहुंचने के थोड़ी देर बाद ही उन्हें अपनी छोटी बहन की अकस्मात् बीमारी का दुखद समाचार मिला। उस समय उनकी बहन की आयु 14 वर्ष थी। वह सांघातिक रोग से पीड़ित हो गई थी। उसकी चिकित्सा के लिए समस्त संभव उपाय काम में लाए गए, किंतु कोई भी चिकित्सा सार्थक नहीं हुई।

वह तुरंत बहन की कुशलता जानने वापस चले आए। वह लगभग दो घंटे तक उनके करीब रहे और दो घंटे बाद ही उनकी बहन ने प्राण त्याग दिए। अपनी

आंखों के सामने ही बहन की अकाल मृत्यु ने उनकी आत्मा को झकझोरकर रख दिया। मृत्यु का यह भयानक रूप उनकी आंखों में नाच उठा और उनके मन में नश्वर संसार के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई।

बहन की मृत्यु से उनके मन में एक अन्य प्रश्न पैदा हो गया—मृत्यु क्या है और वह क्यों आती है? कुछ दिनों बाद ही उनके चाचा की भी मृत्यु हो गई। इससे मूलशंकर अर्थात् दयानंद और अधिक क्षुब्ध हो उठे। वह मृत्यु का कारण जानने और इससे छुटकारा पाने का उपाय जानने को परेशान हो गए। उन्होंने कई लोगों से इस विषय में बात की और अमरता का राज जानना चाहा।

कुछ लोगों ने उन्हें बताया कि योगाभ्यास व वैराग्य से कुछ हद तक मृत्यु से बचा सकता है। किंतु मूलशंकर विरक्त से हो गए थे। वह प्रायः अपनी सुध बुध खोकर एकांत में बैठे रहते थे। उनके साथ हंसने-खेलने वाली बहन की मृत्यु ने उन्हें व्याकुल कर दिया था।

विवाह की तैयारी और गृहत्याग

अब तक वह बीस वर्ष की आयु में पहुंच चुके थे। बालमन किशोरावस्था की सीढ़ी पारकर युवावस्था में प्रवेश करने लगा था, किंतु उनके जिज्ञासा रूपी प्रश्न ज्यों-के-त्यों ही थे। उनका मन इन प्रश्नों का उत्तर जानने को छटपटाने लगा। उनके पिता ने उनकी विकल मनःस्थिति को समझा और उन्हें कई प्रकार से समझाया।

किंतु बहन व चाचा की मृत्यु से व्यथित मूलशंकर जन्म-मरण के दारुण दुख से सदा के लिए छूटने का उपाय ढूँढ़ना चाहते थे। वैराग्य का यह सूत्र शनैःशनैः प्रबल होता गया। उनके माता-पिता उनकी यह स्थिति देखकर परेशान रहने लगे। उन्हें लगा कि ऐसी स्थिति से उनका पुत्र अवश्य ही संन्यासी बन जाएगा। अतः ऐसी स्थिति में विवाह कर देने से उसका मन युवा पत्नी में रम जाएगा और उसकी एकाग्रता भी भंग हो जाएगी।

बाईस वर्ष का होते-होते उनके माता-पिता ने उनका विवाह कर देने का निश्चय किया और पड़ोस के गांव में एक लड़की भी पसंद कर ली। साथ ही विवाह की तिथि भी निश्चित कर दी।

विवाह के विचार से ही मूलशंकर में वैराग्य का विचार प्रबल होने लगा। मूलशंकर को अहसास हो चुका था कि विवाह के बाद वह गृहस्थ धर्म के दायित्व में बंध जाएंगे और उनके सत्य की खोज पूरी नहीं हो पाएगी। उनके

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/13

माता-पिता भी यही चाहते थे किंतु युवा दयानंद ने ब्रह्मचर्य का पालन करने का निर्णय लिया। साथ ही वह काशी जाकर शास्त्रानुशीलन करने का निश्चय भी कर चुके थे।

उन्होंने माता-पिता से आजन्म ब्रह्मचारी रहने और वेदों का अध्ययन करने की बात कही और उन्होंने विवाह रोकने की प्रार्थना की किंतु उनके पिता को उनकी यह बात अच्छी नहीं लगी। उनका आग्रह बढ़ता चला गया। पिता ने सोचा कि घर में नवयौवना पत्नी आने से उनका मन इस व्याकुलता से हट जाएगा।

इधर उनके माता-पिता उनके विवाह की तैयारियों में जुटे रहे, उधर 1851 ई. (संवत् 1900) में उन्होंने अपने संकल्प को पूरा करने की अंतिम प्रतिज्ञा की। बाईस वर्ष की अवस्था में उन्होंने विवाह की रात को ही सजे-धजे घर का यह कहकर परित्याग कर दिया कि "...अब मैं लौटकर न आऊंगा..." ठीक वैसे ही जैसे कभी सिद्धार्थ (गौतमबुद्ध) ने सत्य की खोज के लिए गृहत्याग किया था।

घर का परित्याग कर वह सद्ज्ञान प्राप्ति के लिए पथप्रदर्शक की खोज में निकल पड़े। आध्यात्मिक क्रांति और सत्यार्थ की खोज में उठाया गया दयाशंकर का यह कदम लक्ष्य के प्रति उनकी निष्ठा का ज्वलंत उदाहरण था। उनके जाने की खबर सुनते ही पिता ने तुरंत अपने पियादे (सेवक) उनकी खोज में भेज दिये।

गुरु की तलाश में वैरागियों की संगत

गृहत्याग करने के पश्चात् मूलशंकर ने अपनी पहली रात नगर से छः कोस दूर जाकर बिताई। तत्पश्चात् वह निरंतर आगे बढ़ते गए। सुखों की छांव में पले-बढ़े मूलशंकर के लिए यह दुनिया का पहला अनुभव था। नगर, मार्ग व पथ की कठिनाइयों से अनजान मूलशंकर सत्य की तलाश में निर्बाध बढ़ते रहे।

मार्ग में पड़ने वाले पहाड़ नदी-नाले आदि भी उन्हें रोक न सके। जहां भी जो कुछ भी मिला उन्होंने वह खाया। कंटोले रास्तों पर चलते-चलते उनके पैर कई बार लहुलुहान भी हुए। रात हुई तो पेड़ों के नीचे ही सो गए। मार्ग में पड़ने वाले सभी संकटों का उन्होंने वीरतापूर्वक सामना किया, किंतु धैर्य नहीं छोड़ा।

जंगल से गुजरते हुए एक बार उनका सामना रीछ से हो गया। विशाल काया वाले मूलशंकर जरा भी नहीं डरे और डटकर रीछ को घूरते रहे। आखिरकार रीछ को ही अपना मार्ग बदलना पड़ा। तेज धूप, घनघोर वर्षा, कंपकपाती ठंड की परवाह किए बिना उनके कदम अनजानी मंजिल की ओर बढ़ते गए। उन्हें सत्य का दर्शन कराने वाले किसी पथप्रदर्शक की तलाश थी।

उन दिनों शैलानगर में लाला भक्त नाम के एक योगी की बड़ी प्रसिद्धि थी। मूलशंकर उनसे मिलने चल दिए। मार्ग में ही उनकी भेंट एक वैरागी से हुई। मूलशंकर का प्रयोजन जानने के बाद उनके शरीर पर धारण आभूषण देखकर वैरागी ने कहा कि आभूषण पहनकर योग करना कठिन होता है।

यह सुनकर मूलशंकर ने निःसंकोच अपने समस्त आभूषण उतारकर उस वैरागी को दे दिए। वहां से चलकर वह लाला भक्त से मिले और सत्यमार्ग की प्राप्ति के लिए योग सीखने लगे। किंतु उनका मन अधिक दिनों तक शैलानगर में नहीं लगा।

सिद्धपुर मेला और पुनः गृहत्याग

तभी मूलशंकर को अहमदाबाद के निकट किसी गांव में सिद्ध वैरागी के

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/15

होने की सूचना मिली। गांव-गांव, नगर-नगर चलते हुए वह अहमदाबाद पहुंचे। वहां वह उन वैरागियों से मिले और अपनी ज्ञान पिपासा को शांत करने लगे।

वैरागियों के साथ एक राजमहिषी भी थी। बलिष्ठ और तेजवान मूलशंकर को देख वह उनकी ओर आकर्षित हो गई। मूलशंकर उन दिनों अपने पूर्ण यौवन पर थे। योग व कसरत से उनका शरीर पुष्ट बन चुका था। योग क्रिया ने उनके चेहरे की लालिमा को बढ़ा दिया था। वह रेशमी कपड़े पहनते थे और शांत से रहते थे।

अब तक वह ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्धि पा चुके थे। ऐसे नौजवान को राजमहिषी ने अपने रूपजाल में जकड़ना चाहा, किंतु वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सकी। वैरागियों के साथ मूलशंकर तीन माह तक रहे, किंतु परस्त्री आकर्षण उन्हें छू भी नहीं सका था।

वैरागियों की संगत से विदा लेकर मूलशंकर सिद्धपुर मेले में चले गए, वहां योगी समागम आयोजित किया गया था। उधर वह सत्य की खोज में बेचैन थे और यहां उनके पिता ने उनकी तलाश तेज कर दी थी। उनके पितादे सर्वत्र मूलशंकर को खोज रहे थे। आखिरकार एक महंत से उन्हें मूलशंकर के सिद्धपुर में होने की सूचना मिली।

कहा जाता है कि सिद्धपुर मेले में अचानक मूलशंकर की भेंट उनके किसी परिचित से हो गई और उसके माध्यम से ही मूलशंकर के पिता को उनकी सूचना पहुंची।

उन दिनों मूलशंकर नीलकंठ महादेव के मंदिर में ठहरे हुए थे। उनके पिता सीधे सिद्धपुर ही जा पहुंचे और वहां से मूलशंकर को समझा-बुझाकर वापस घर ले आए। वापस लाकर उन्हें घर में कैदकर सिपाहियों का पहरा बैठा दिया गया।

किंतु मूलशंकर को सत्य की चाह थी, अतः एक दिन सवेरे-सवेरे वह शय्या का परित्याग कर निकल पड़े और दिनभर घर के सामने ही एक वृक्ष पर बैठे रहे किंतु किसी को कुछ भी पता न चला। शाम ढलते ही वह पेड़ से उतरे और पुनः बड़ौदा चले गए। उन्होंने अहमदाबाद के समीप स्थित दुग्धेश्वर मंदिर में कुछ दिनों तक वास किया और योगविद्या के गूढ़ तत्व सीखे। तत्पश्चात् उन्होंने कुछ दिनों तक आबू पर्वत पर भी भ्रमण किया।

वेदांत और योग शिक्षा

बड़ौदा (चाड़ोंद) में मूलशंकर की भेंट चैतन्य मठ के संन्यासियों से हुई।

इस मठ के ब्रह्मानंद स्वामी से उन्होंने वेदांत संबंधी विचार-विमर्श किया। अब उन्हें सत्यमार्ग का रास्ता ज्ञात होने लगा था। जीव तथा ब्रह्म की एकता में विश्वास बढ़ने लगा था। वहां से वह सत्य के परिशोध में अनेक आश्रमों व मठों में गए और कई संन्यासियों से विचार-विमर्श किया। अब उनका अधिकतर समय संतों के सत्संग और विद्या अर्जन में ही व्यतीत होता था।

मूलशंकर से बने दयानंद सरस्वती

चाड़ोंद में ही उन्होंने कुछ दिनों तक निवास किया। यहीं उन्होंने ज्वालानंदपुरी तथा शिवानंदगिरी नामक संन्यासियों से योग क्रियाएं भी सीखीं। योग दीक्षा लेने पर मूलशंकर ने अपना नाम भी बदल दिया और एक नई पहचान लेकर दयानंद बन गए। लगभग चौबीस वर्ष की उम्र में उन्हें नर्मदा के तट पर एक दक्षिणात्य दंडी स्वामी पूर्णानंद सरस्वती की उपस्थिति का समाचार मिला। वह चाड़ोंद ग्राम से डेढ़ कोस दूर जंगल में निवास करते थे। ज्ञान पिपासु दयानंद उन्हें खोजते हुए नर्मदा के किनारे जा पहुंचे। उन्हें देखते ही दयानंद मोहित हो गए।

दयानंद ने उन्हें अपना गुरु बनाने का निश्चय कर लिया और उनसे बोले, “गुरुदेव, मैं संन्यासी बनना चाहता हूं। कृपया मुझे दीक्षा दीजिए।”

संन्यासी ने अपनी तेजपूर्ण दृष्टि से उनके मुखमंडल को देखा और दयानंद के अंतर्मन को एक ही नजर में जान लिया। किंतु दयानंद की परीक्षा लेने के लिए वह बोले, “संन्यासी का मार्ग बड़ा दुष्कर होता है। तुम अल्पवय के किशोर बालक हो। क्या उस मार्ग पर चल सकोगे?”

दयानंद ने आत्मविश्वास भरे स्वर में दृढ़ता से कहा, “हां चल सकूंगा। प्राण त्याग दूंगा, पर मार्ग नहीं छोड़ूंगा, धर्म का परित्याग नहीं करूंगा।”

दयाशंकर की दृढ़ता व आत्मविश्वास देखकर पूर्णानंद सरस्वती ने उन्हें विधि पूर्वक संन्यास आश्रम की दीक्षा दी। दयानंद तो वह पहले ही बन चुके थे अब ‘सरस्वती’ उपाधि धारण कर दयानंद सरस्वती बन गए।

तत्पश्चात् उन्होंने व्यासाश्रम जाकर योगानंद से योगाभ्यास सीखा। दयानंद ने उनसे वेदशास्त्र सिखाने का भी आग्रह किया। इस पर वह बोले, “मैं तो बूढ़ा हो चला हूं पर मेरे शिष्य विरजानंद तुम्हें वेदशास्त्र सिखा सकते हैं। लेकिन उनके निवास का मुझे कोई ज्ञान नहीं है।”

वास्तव में पूर्णानंद से दयानंद का मिलना उनका सौभाग्य था। पूर्णानंद सरस्वती वास्तव में शृंगेरी मठ से द्वारका जाते हुए चाड़ोंद में ठहर गए थे और यहीं मूलशंकर को एक नवजीवन प्राप्त हुआ।

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/17

मन का अंतर्द्वंद्व और शव परीक्षण

संन्यास ग्रहण करने के बाद भी उनकी ज्ञान पिपासा पूरी तरह शांत नहीं हो पाई थी। उनके मन में अब भी शिवरात्रि की घटना और बहन व चाचा की मृत्यु से उपजे प्रश्न पूर्ववत् बने हुए थे। सच्चे शिव ओर मृत्यु के रहस्य को जानने के लिए ही उन्होंने सांसारिक बंधनों का त्याग किया था। वह उस अलौकिक शक्ति को तलाश करना चाहते थे, जिसके निकलने पर शरीर मृत हो जाता है।

अपने इन प्रश्नों की खोज में वह सर्वत्र भ्रमण करने लगे। उन्होंने कई घने वनों व दुर्गम पर्वतों की यात्रा की। उन्होंने ऐसे संन्यासी की तलाश थी जो उनके मन में उठे द्वंद्व को शांत कर सके। किंतु उनका यह प्रयोजन निष्फल ही रहा। उनकी जिज्ञासा शांत नहीं हुई।

उन्हें ऐसी पुस्तक व ग्रंथ की तलाश भी थी, जिनमें उनके प्रश्नों के उत्तर मिल सकें। किंतु उन दिनों पुस्तकें बहुत कम छपा करती थीं। लोग प्रायः अपनी पुस्तकों को संपत्ति के समान ही छिपाकर रखते थे। किंतु दयानंद बचपन से ही ज्ञान पिपासु थे और प्रायः मिलने वाली सभी पुस्तकों को पढ़ा करते थे।

एक दोपहर वह नदी के तट पर बैठे हुए एक ऐसी पुस्तक पढ़ रहे थे जिसमें मानव शरीर व उसकी रचना का वर्णन था। उन्होंने कई बार उस पुस्तक को पढ़ा किंतु वह कुछ समझ नहीं पाए। ठीक उसी समय उन्हें नदी में एक शव बहकर आता हुआ दिखाई दिया। शव को देख दयानंद को एक अद्भुत युक्ति सूझी। उन्होंने तुरंत नदी की धारा में कूदकर उस शव को निकाल लिया।

अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए उन्होंने शव का पेट चीर दिया और उन बातों को ज्ञात करने लगे जो उस पुस्तक में लिखी थीं। किंतु उन्हें पुस्तक में लिखी कोई भी बात उस शव परीक्षण में नहीं मिली। इससे वह बहुत निराश हुए। अगले ही पल उन्होंने उस पुस्तक को फाड़कर उस शव पर रखा और उस जलधारा में बहा दिया। यद्यपि यह कृत्य नैतिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं था, किंतु सत्य को ज्ञात करने के लिए तथा प्रमाणिकता के लिए दयानंद ने वह शव परीक्षण किया था।

कुंभ की कुरीतियां

संन्यास प्राप्ति के पश्चात् वह कई योगियों व ऋषियों से मिलते रहे। काफी दिनों तक भ्रमण किया और वैशाख संवत् 1912 को (1861 ई.) को होने वाले कुंभ के मेले में शामिल हुए। उस समय उनकी आयु बत्तीस वर्ष हो चुकी थी।

18/बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती

कुंभ मेले में उन्होंने धार्मिक पाखंडों तथा अनाचारों को देखा, जिसके कारण उन्हें पौराणिक व धार्मिक रीतियों से अरुचि हो गई। उन्होंने उसी क्षण समाज व धर्म की ऐसी कुरीतियों को दूर करने का संकल्प लिया।

कुंभ के पश्चात् स्वामी दयानंद टेहरी (टिहरी) प्रस्थान कर गए और वहां के दारघाट के एक मंदिर में अपना आसन जमाया। वह कई दिनों तक हिमालय की बर्फीली चोटियों में भ्रमण करते रहे, ताकि किसी उपयुक्त व्यक्ति से अपनी जिज्ञासाओं को शांत कर सके, किंतु उन्हें कोई भी ज्ञानी व विद्वान नहीं मिला।

वहां से वह बद्रीनारायण भी गए और वहां से आगे देश के अन्य तीर्थ स्थलों का भी भ्रमण करते रहे। वह वर्षपर्यंत नर्मदा नदी के तट पर ही रहे, ताकि किसी संत पुरुष से सत्य का ज्ञान प्राप्त कर सके। इस बीच उनकी भेंट कई संतों से हुई, किंतु उनकी सत्य की खोज अधूरी ही रही।

प्रज्ञाचक्षु विरजानंद से भेंट

एक दिन दयानंद नदी किनारे बैठे थे। उनका मन अत्यंत व्याकुल था। वह सच्चे गुरु की तलाश में काफी भ्रमण कर चुके थे। संयोगवश उनके कानों में यह खबर पड़ी कि मथुरा में यमुना नदी के तट पर एक प्रज्ञाचक्षु दंडी स्वामी रहते हैं, जो महाज्ञानी, तेजस्वी व वेदों के ज्ञाता हैं। वह स्वामी और कोई नहीं बल्कि दयानंद के गुरु पूर्णानंद सरस्वती के ही शिष्य थे, जिनके बारे में पूर्णानंद स्वामी ने भी संकेत दिया था।

विरजानंद भी ऋषि परंपरा के अनुसरणकर्ता थे। वह मथुरा में यमुना के तट पर कुटिया बनाकर रहते थे और विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। उन दिनों वह अलवर के राजा विनयसिंह को शिक्षा दे रहे थे। अतिरिक्त समय में वह अपनी पाठशाला में अन्य विद्यार्थियों को भी पढ़ाते थे। वहां के लोग उन्हें 'प्रज्ञाचक्षु' कहते थे क्योंकि वह नेत्रहीन थे। प्रायः प्रज्ञाचक्षु उस नेत्रहीन व्यक्ति को कहा जाता है, जो ज्ञान के दिव्य नेत्र से सब कुछ देखता व जानता है। विरजानंद नेत्रहीन होते हुए भी अद्भुत ज्ञानी तथा महान पंडित थे।

स्वामी विरजानंद जी को खोजते हुए दयानंद उनकी कुटिया तक जा पहुंचे। दोपहर के समय वह पठन-पाठन में लीन थे। दयानंद ने उन्हें शालीनता और विनीत भाव से प्रणाम किया।

विरजानंद जी ने आशीर्वाद देते हुए उनके आने का प्रयोजन पूछा, तो दयानंद बोले-गुरुदेव, मेरा नाम दयानंद है। आपकी कीर्ति व यश सुनकर दूर से आ रहा

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/19

हूँ। आपका शिष्य बनकर विद्या प्राप्त करना चाहता हूँ। कृपया मुझे भी अपने चरणों में स्थान दीजिए।”

यह सुनकर विरजानंद जी मन ही मन कुछ सोचने लगे और कुछ क्षण बाद बोले, “अब तक तुम कौन-कौन सी पुस्तकें पढ़ चुके हो?”

दयानंद ने उत्तर देते हुए उन सभी पुस्तकों के नाम सुना दिए जिनका उन्होंने अब तक अध्ययन किया था।

विरजानंद जी ने दूसरा प्रश्न किया, “क्या वे सभी पुस्तकें तुम्हारे पास हैं या उन्हें छोड़कर आए हो?”

दयानंद बोले, “गुरुदेव ये सभी पुस्तकें मेरे पास ही हैं।”

विरजानंद ने तुरंत कहा, “तो जाओ और इन सभी पुस्तकों को यमुना में फेंक आओ।”

विरजानंद जी की बात सुनकर दयानंद जी हैरान रह गए। जिन पुस्तकों को ज्ञान का भंडार कहा जाता है, जिन्हें लोग छिपाकर रखते हैं, उन्हें यह फेंकने के लिए कह रहे हैं। स्वयं दयानंद ने भी इन पुस्तकों को प्राप्त करने के लिए बहुत कष्ट भोगे थे। इनके लिए वह दूरस्थ गांवों, नगरों, पर्वतों व वनों तक भ्रमण कर चुके थे। वह सोचने लगे कि जिन पुस्तकों को उन्होंने इतने कष्ट उठाकर प्राप्त किया है, उन्हें एक क्षण में ही यमुना में क्यों बहा दूं?

दयानंद का मन अजीब-सी उलझन

दयानंद का मन अजीब-सी उलझन में फंस गया था। एक ओर गुरु से ज्ञान प्राप्ति की लालसा थी तो दूसरी ओर पुस्तकों का मोह। एक मन गुरु-शिक्षा की खातिर पुस्तकों को फेंकने का विचार करता तो दूसरा उन्हें मना करता। कुछ देर उलझन में पड़ने के बाद उन्होंने स्वयं से ही कहा, ‘कैसी अज्ञानता की बात है। मैं गुरु से ज्ञान तो प्राप्त करना चाहता हूँ पर उनकी आज्ञा पालन करने में तर्क-वितर्क में उलझा हूँ। गुरु की आज्ञा से तो प्राण तक दे दिए जाते हैं, पुस्तकें कौन सी बड़ी वस्तु है।’

यह विचार मन में आते ही उन्होंने निश्चय कर लिया और तुरंत अपनी सारी पुस्तकें यमुना में फेंक दी, किंतु शिष्यत्व प्राप्त करने से पूर्व दयानंद को कई कड़ी परीक्षाओं से गुजरना था, ताकि उनकी दृढ़ता, अडिगता, ज्ञानपिपासा तथा दृढ़विश्वास का पता चल सके।

यह दयानंद की वैदिक शिक्षा का प्रारंभ था। उन्होंने अपने गुरु की प्रथम

आज्ञा का श्रद्धापूर्वक पालन किया। किंतु अभी वह उनके वास्तविक शिष्य नहीं बन थे। उनकी वास्तविक शिक्षा का प्रारंभ होना अभी शेष था।

अध्ययन का प्रारंभ और कठोर तप

कहा जाता है कि कार्तिक सुदी 2, संवत् 1917 (1860 ई.) को दयानंद, विरजानंद के वास्तविक शिष्य बने और सत्य की प्राप्ति के लिए वास्तविक अध्ययन प्रारंभ किया। परंपरा के अनुसार दयानंद को अपने गुरु की सेवा भी करनी थी और शिक्षा भी लेनी थी।

विद्या व ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य कठिन-से-कठिन तप करता है। स्वामी जी के लिए यह विद्याप्राप्ति भी एक प्रकार का कठोर तप ही था। जो मनुष्य विद्या प्राप्ति हेतु जितना अधिक कष्ट झेलता है उसका ज्ञान उतना ही अधिक प्रबल होता है। स्वामी जी की कठिन परीक्षा प्रारंभ हो चुकी थी। किंतु अभी उनके पास न तो भोजन और आवास आदि का ही प्रबंध था और न ही शिक्षा सामग्री का। उनके पास वस्त्रादि का प्रबंध करने के लिए भी धन का अभाव था। वह भूखे-प्यासे रहकर ही विद्या प्राप्त करने लगे।

ऐसे में मथुरा के निवासी अमरलाल ने भोजन और ग्रंथ आदि का प्रबंध करने में स्वामी जी की सहायता की। विश्रामघाट के ऊपरी भाग में लक्ष्मीनारायण का एक मंदिर था। इसी मंदिर के नीचे स्थित एक तंग कोठरी में उनके रहने की व्यवस्था की गई। किंतु वह कोठरी अत्यंत छोटी थी कि दयानंद बड़ी कठिनाता से वहां पांच पसारकर सो पाते थे।

भोजन व आवास की समस्या हल होने के बाद भी एक समस्या ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी। वह समस्या रात में अध्ययन की थी। स्वामी जी के पास तेल बत्ती खरीदने के लिए पैसे नहीं थे। ऐसी स्थिति में स्वामीजी ने एक युक्ति निकाली।

मथुरा में स्त्रियां देवी-देवताओं के नाम पर प्रायः चौराहों पर दीपक जलाया करती थी। दयानंद सुबह बुझे हुए दीपक उठा लाते और उनकी बत्तियों में से ही तेल तथा रुई एकत्र कर तेल व बत्ती का प्रबंध करते। रात में उसी तेल व बत्ती से वह कोठरी में दीपक जलाकर अध्ययन किया करते थे। विद्या को ऐसे विचित्र ढंग से प्राप्त करने का दूसरा उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है।

कठोर गुरु की सहृदय सेवा

भारतीय शिक्षा परंपरा में गुरु का स्थान सदैव ईश्वर से भी ऊपर माना गया

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/21

है। गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा व दिखाए गए मार्ग पर चलकर ही शिष्य अपने आराध्य देव को पा सकता है। गुरु-शिष्य की इसी महान परंपरा का जीवंत उदाहरण स्वामी दयानंद ने दर्शाया। वह गुरु की प्रत्येक आज्ञा का सम्मान सहित पालन किया करते थे।

स्वामी विरजानंद विद्या प्राप्ति व गुरु सेवा दोनों ही विषयों में अत्यंत कठोर थे। वह प्रतिदिन यमुना नदी के जल से ही स्नान किया करते थे। दयानंद प्रतिदिन नदी से बारह घड़े जल लेकर आते और विरजानंद जी उससे स्नान करते। किंतु पानी लाने का यह कार्य सर्दी व बरसात के दिनों में अत्यंत कठिन हो जाता था। भयानक सर्दी व कंपकंपाती ठंड से शरीर का अंग-अंग ठिठुर जाता था, किंतु दयानंद यथावत् अपना कार्य करते रहते थे।

इसके अलावा गुरु विरजानंद की कुटिया को प्रतिदिन सुबह झाड़ू देने का कार्य भी दयानंद के ही सुपुर्द था। वह प्रतिदिन बड़े प्रेम से कुटिया को साफ किया करते थे।

एक दिन दयानंद कुटिया को झाड़ू देने के बाद कूड़ा फेंकने जा रहे थे कि संयोगवश कुछ कूड़ा गिर गया, जिसका कुछ कचरा उड़कर गुरु के पैर पर भी पड़ गया। इससे विरजानंद अत्यंत क्रोधित हुए और उन्होंने दयानंद को अपने चरणों से ही प्रताड़ित किया। साथ ही डंडे से भी उनकी काफी पिटाई की।

पिटाई होने के पश्चात् दयानंद गुरुजी का पांव दबाने लगे और कहने लगे, "गुरुजी, आपके पैर में अवश्य चोट आई होगी, क्योंकि मेरा शरीर तो अत्यंत कठोर है और आपके पैर बड़े कोमल हैं...मेरे वज्र शरीर पर लातें और डंडे लगाने से आपके कोमल हाथों में पीड़ा हो रही होगी..."

दयानंद के इस व्यवहार से विरजानंद बहुत प्रसन्न हुए। उनकी भक्ति तथा सेवाओं ने विरजानंद को मुग्ध कर दिया था। उस दिन की प्रताड़ना का चिह्न उनकी भुजा पर जीवनभर बना रहा। दयानंद जब उसे देखते तो गुरुजी के उपकारों का स्मरण अवश्य करते।

विरजानंद नियमों के प्रति अत्यंत कठोर थे। वे कभी भी एक बार पढ़ाया गया पाठ पुनः नहीं पढ़ाते थे। उन्होंने दयानंद को भी आदेश दे रखा था कि यदि भूला पाठ याद न आए तो मेरे पास आने की अपेक्षा यमुना में डूबकर प्राण देना उचित होगा।

संयोगवश एक दिन स्वामी जी गुरु द्वारा पढ़ाया गया पाठ भूल गए। लाख चेष्टा करने पर भी उन्हें वह पाठ स्मरण नहीं हुआ। गुरु के आदेशानुसार वह निर्जन

यमुना तट पर एक पेड़ के नीचे बैठ गए। उन्होंने निश्चय किया कि यदि पाठ याद नहीं कर पाया तो यमुना में प्राण त्याग दूंगा। अनायास ही थोड़ी देर में उन्हें नींद आ गई। नींद ने उनकी पलकों को भारी कर दिया।

ऐसी स्थिति में उन्हें लगा कि किसी अद्भुत व्यक्ति ने उनके समक्ष प्रकट होकर उन्हें भूला हुआ पाठ याद करवाया। इस घटना से उन्हें वह पाठ याद भी हो गया। जब उन्होंने यह सारा घटनाक्रम गुरु विरजानंद को बताया तो उन्हें बहुत खुशी हुई। साथ ही उन्हें दयानंद की गुरुभक्ति तथा तन्मयता पर भी अपार हर्ष हुआ।

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की गुप्त बैठकें

उन दिनों देश का राजनीतिक व सामाजिक वातावरण उथल-पुथल भरा था। अंग्रेजों के बढ़ते अत्याचारों से देश कुठित हो चुका था और उन्हें देश से निकाल देना चाहता था। चारों ओर गुप्त रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की तैयारियां हो रही थीं। यहां तक कि साधु संन्यासी भी युद्ध क्षेत्र में कूदने के लिए कमर कस चुके थे। ये साधु संन्यासी देशी रियासतों के शासकों तथा विद्रोहियों में नैतिक व मानसिक प्रोत्साहन देते थे। कई विद्रोही नेता गुपचुप तरीकों से देश को संगठित करने में लगे थे।

ऐसे ही एक विद्रोही व्यक्ति मोहर सिंह थे, जो उस समय पश्चिमी भारत के लोगों को एकजुट कर रहे थे। 1855 ई. के दौरान उन्होंने पश्चिमी भारत के क्रांतिकारियों से भेंट कर एक सभा की। इस सभा में लगभग डेढ़ हजार लोग शामिल हुए। इसमें पचास वर्ष से ऊपर की 15 महिलाओं ने भी योगदान दिया। उन्होंने भी हर जाति के लोगों को संगठित कर रखा था। सभा में फिरोजशाह, बाला साहिब मराठा, रंगो बापू, मौलाना अजीमुल्लाह जैसे क्रांतिकारियों के अलावा प्रसिद्ध क्रांतिकारी नाना साहब पेशवा भी मौजूद थे। इस सभा को स्वामी ओमानंद नामक संन्यासी ने संबोधित किया था।

5 अक्टूबर, 1855 ई. को गढ़मुक्तेश्वर में भी एक ऐसी ही क्रांतिकारी सभा का आयोजन हुआ। इसमें लगभग ढाई हजार लोग शामिल हुए थे। सभा की अध्यक्षता दयानंद के गुरु रहे स्वामी पूर्णानंद सरस्वती ने की और शेख फखरुद्दीन इसके उपाध्यक्ष बनें। सभा में कई लोगों ने अपने प्रभावशाली व विद्रोही भाषण दिए।

स्वामी पूर्णानंद ने आखिर में सभा का सार प्रस्तुत कर कहा, “राष्ट्र को विदेशियों के भरोसे मत छोड़ो। वे राजा नहीं लुटेरे हैं। वे हमारे समाज के हर व्यक्ति के दुश्मन हैं। वे आपका खून पी जाएंगे, मांस नोचकर खा जाएंगे। उनसे सावधान रहो। वरना वे तुम्हारी कौम को बरबाद कर देंगे। वे तुम्हारी जमीन पर

24/बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती

कब्जा कर लेंगे, इसलिए उन्हें अपनी जमीन से खदेड़ा ही जाना चाहिए..."

11 अक्टूबर, 1855 को हरिद्वार की पहाड़ियों में भी एक सभा आयोजित की गई, जिसका श्रेय भी मोहर सिंह को जाता है। सभा में स्वामी विरजानंद ने भी भाषण दिया। इस सभा में 565 साधु भी शामिल थे। इनमें 195 मुस्लिम फकीर तथा 370 हिंदू साधु थे। सभा में स्वामी विरजानंद के साथ दयानंद भी उपस्थित थे और उनके पूर्व गुरु पूर्णानंद भी मौजूद थे।

इन महान लोगों के अलावा हरियाणा सर्वखाप के मंत्री व प्रमुख मोहनलाल जाट, सेना प्रमुख शिवराम जाट, उपसेना प्रमुख भागवत गूजर, सर्वखाप के अधिकृत दस्तावेज लेखक व संदेशवाहक मीर मुश्ताक मिरासी, जूनागढ़ अखाड़े के नागा योद्धा व हरियाणा के पूर्व पहलवान ब्रह्मदेव (त्यागियों के प्रतिनिधि) तथा पंडित शोभाराम (बरेली के खान बहादुर के प्रतिनिधि) भी शामिल हुए थे।

सभा में स्वामी पूर्णानंद, विरजानंद तथा फखरुद्दीन शेख आदि ने अपने क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किए। स्वामी पूर्णानंद ने धर्मपालन के साथ-साथ राष्ट्र को भी ऊपर उठाने पर जोर दिया। सभा में ही स्वामी विरजानंद ने स्वामी दयानंद को शिक्षा दी कि शास्त्र व अध्यात्म समझने से पहले वे अपना समय राष्ट्र को ऊपर उठाने में लगाएं।

सभा के बाद

इस सभा के बाद से स्वामी दयानंद तथा क्रांतिकारियों की घनिष्टता काफी बढ़ने लगी थी। स्वामी दयानंद मोहरसिंह के साथ तुरंत पूर्णानंद स्वामी के आश्रम गए और वहां एक गुप्त बैठक की। बैठक में कई जाने-माने शासक व हस्तियां मौजूद थीं। इनमें नाना साहेब, तात्या टोपे, राजा कुंवर सिंह, बेगम हजरत महल, रंगो बापूजी, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, बहादुर शाह जफर के प्रतिनिधि, ढकौली के चौधरी दयासिंह जाट, मेरठ के जाट दादा शाहमल भी शामिल थे। क्रांतिकारी मोहर सिंह इस सभा में शामली के जाट चौधरी के नाम से उपस्थिति हुए थे।

1856 में क्रांतिकारियों की अन्य बैठक मथुरा में भी हुई, जहां स्वाधीनता संग्राम के सभी बड़े नेता मौजूद थे। घटना की सारी गतिविधियां मीर मुश्ताक मिरासी दर्ज कर रहे थे। उनके विवरण के अनुसार इस बैठक में हिंदू, मुस्लिम सहित समाज के सभी लोग शामिल हुए थे।

स्वामी विरजानंद को बैठक का सभापति बनाया गया था। उन्हें बैठक में पालकी में बैठाकर लाया गया। उनके मंच पर आते ही हिंदू मुस्लिम धर्म के सभी

साधुओं ने उनके चरण चूमकर उन्हें सम्मान दिया। नाना साहब पेशवा, मौलवी अजीमुल्लाह खां, रंगो बापू तथा बहादुर शाह जफर के बेटे ने उन्हें सम्मान स्वरूप अशर्फियां भेंट की।

स्वामी विरजानंद ने ईश्वर की वंदना से सभा का प्रारंभ किया और वहां उपस्थित लोगों को संबोधित करते हुए कहा, “स्वाधीनता ही संपत्ति है और गुलामी छल है, एक धोखा है। देश पर स्थानीय लोगों का शासन विदेशी लोगों के शासन से सैकड़ों गुणा बेहतर है। दूसरों की गुलामी अपमान और शर्म का कारण होती है। ये क्रूर लोग हम पर जबरदस्ती शासन कर रहे हैं। वे हमारे राजाओं का अपमान करते हैं। हमारे लोगों से जानवरों जैसा व्यवहार करते हैं। ईश्वर की नजर में सभी लोग बराबर हैं, पर ये क्रूर विदेशी उन्हें बराबर नहीं मानते। विदेशियों में कुछ अच्छाइयां जरूर हैं, पर सच्चाई यह है कि मामले के भीतर झांकिए तो उसका सुर बदला मिलता है। वे हमारी नेक सलाह और कुदरत की अच्छाइयों को खारिज कर देते हैं। इसीलिए हम इस धरती के लोगों से अपील करते हैं कि यह हर नागरिक का कर्तव्य है कि वह देशभक्त बने और एक दूसरे को भाई माने। जो कोई हिंदुस्तान में रहता है वह एक-दूसरे का भाई है और बहादुर शाह हमारे शासक हैं।”

निस्संदेह यह सभा सनातन धर्म और मुगल शासन के बीच एक अद्भुत कड़ी थी, जो देश के क्रांतिकारी संबंधों व संन्यासी संगठनों के महत्व का दर्शा रही थी।

हरिद्वार के नील पर्वत

वर्ष 1856 में स्वामी दयानंद ने हरिद्वार के नील पर्वत पर स्थित चंडी मंदिर पर अपना डेरा जमाया। वहां कुछ क्रांतिकारियों को उनके साथ महत्वपूर्ण बैठक करनी थी, यह बात स्वामी रुद्रसेन उन्हें पहले ही बता चुके थे। कुछ देर बाद चार-पांच अनजान लोगों ने आकर पहले तो उनका परिचय पूछा और तत्पश्चात् एकांत में बैठकर उनके साथ चर्चा की।

उन पांच लोगों ने स्वामी जी से आग्रह किया कि वह साधु संगठनों को एकजुट करने का कार्यभार अपने हाथों में ले लें, क्योंकि साधु समाज को संगठित किए जाने का काम अभी बाकी था और शेष भारत एकजुट हो चुका था।

इन पांच क्रांतिकारियों के साथ दो अन्य क्रांतिकारी भी आ मिले। वे थे-राजा गोविंद राय और रानी लक्ष्मी बाई। गोविंद राय उत्तरी बंगाल के नादौर राज्य के

प्रसिद्ध रानी भवानी वंश से जुड़े हुए थे। उनका राज्य हड़प लिया गया था। उन्होंने स्वामी जी को ग्यारह सौ एक रुपए देने चाहे। लेकिन स्वामी जी ने वह धनराशि लेने से इनकार कर दिया, किंतु स्वामी दयानंद के मना करने के बाद भी उन्होंने उनकी बात नहीं सुनी और उन्हें वह धन दे दिया।

रानी लक्ष्मीबाई जब अपने तीन अन्य अधिकारियों के साथ स्वामी जी मिलीं तो वह अत्यंत भावुक हो उठीं। उन्होंने अपनी करुण गाथा सुनाते हुए कहा, “महाराज! मैं एक विधवा हूँ। अंग्रेजों ने ऐलान किया है कि वे आपकी इस बहन का राज्य हड़प लेंगे। वे झांसी पर एक बड़ी सेना के साथ हमला करने की तैयारी में हैं। जब तक मैं जिंदा हूँ तब तक मैं उन्हें अपना खानदानी राज्य हड़पने नहीं दूंगी। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं एक योद्धा के रूप में लड़ते हुए अपना जीवन बलिदान कर सकूँ।”

लक्ष्मीबाई के अश्रुभरे किंतु जोशीले शब्द सुनकर दयानंद बोले, “देवी! यह शरीर शाश्वत नहीं है। वे लोग भाग्यशाली हैं, जिनका शरीर किसी कर्तव्य के लिए बलिदान हो जाता है। वे अमर रहते हैं। अपनी तलवार उठाओ और इन विदेशियों से साहस के साथ लड़ो।”

फिर क्रांतिकारियों को संबोधित करते हुए दयानंद ने कहा, “जनता का नेतृत्व करना और आग से खेलना एक जैसा ही खतरनाक है। छोटी सी गलती का अर्थ है संपूर्ण विनाश। सावधान रहिए। आजादी का संदेश पूरे भारत में गोपनीय तरीके से फैलाया जाना चाहिए।”

शिक्षा पूर्ति और अद्भुत गुरु दक्षिणा

स्वामी दयानंद ने अपने गुरु विरजानंद जी के चरणों में रहकर वेदों व अन्य धर्मग्रंथों का गहन अध्ययन किया। उनके सान्निध्य में दयानंद ने लगभग तीन वर्षों तक रहकर शिक्षा प्राप्त की। अध्ययन के दौरान गुरु-शिष्य में प्रायः तर्क-वितर्क भी हुआ करता था। साथ ही आर्यावर्त के उत्थान व विकास की चर्चा भी होती थी। दंडी स्वामी विरजानंद ने अपना समस्त ज्ञान भंडार दयानंद को सौंप दिया। शिक्षा की समाप्ति होने पर शिष्यों को विदा करने और गुरु दक्षिणा देने का अवसर भी आ पहुँचा।

विरजानंद ने समापवर्तन संस्कार के लिए एक शुभ दिन निर्धारित किया। निश्चित तिथि पर सभी शिष्य अपनी अपनी भेंट लेकर गुरु की सेवा में उपस्थित हुए। सभी शिष्यों ने एक-एक कर अपनी भेंट गुरु के चरणों में अर्पित की और

उनका आशीर्वाद लेकर चलते गए। दयानंद के पास गुरु को देने के लिए कुछ नहीं था। उन्हें पता था कि गुरु विरजानंद को लौंग अतिप्रिय है। अतः उन्होंने केवल आधा सेर लौंग लेकर गुरु के चरणों में समर्पित करते हुए कहा, “गुरुजी, आप को भेंट के रूप में देने के लिए इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।”

विरजानंद अपने अनुभव से दयानंद के अंतर्मन को समझ चुके थे। वह जान चुके थे कि उनका यह शिष्य ही उनके ज्ञान को सार्थक कर सकता है। विरजानंद आनंद भरे स्वर में बोले, “बेटा दयानंद! तुम्हारे यह लौंग के दाने कोटि-कोटि मणियों के समान हैं। मैं तुम पर अति प्रसन्न हूँ। किंतु लौंग से मेरी गुरुदक्षिणा पूरी नहीं होगी। मैं तुमसे गुरु दक्षिणा के रूप में एक और वस्तु चाहता हूँ। बोलो! क्या दे सकोगे?”

दयानंद ने निस्संकोच भक्तिभाव से उत्तर दिया, “गुरुजी, आपके लिए वस्तु क्या, प्राण भी उपस्थित है। आज्ञा कीजिए आप क्या चाहते हैं?”

विरजानंद ने आशीर्वाद देते हुए कहा, “मैं तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ। भारत में जितना ज्ञान है, जितनी पुस्तकें हैं सभी वेदों से ही निकली हुई हैं। वेद ही आदिग्रंथ हैं, वेदों में ही आदिज्ञान है, पर भारतवासी उन्हीं वेदों के ज्ञान को भूल गए हैं। वे वेदों का नाम तो जानते हैं, पर वेदों के ज्ञान को नहीं जानते। वेदों के ज्ञान को न जानने के कारण ही वे अज्ञानता और दुःखों के सागर में डूबे रहे हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि तुम समस्त भारत में घूम-घूमकर वेदों के ज्ञान का प्रचार करो। संसार को वेदज्ञान प्रदान करो। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से भारत का ही नहीं, समस्त विश्व का कल्याण होगा। प्रतिज्ञा करो कि जब तक जीवित रहोगे, आर्य ग्रंथों का प्रचार, अनार्य ग्रंथों का खंडन तथा वैदिक धर्म की स्थापना हेतु प्राण तक न्यौछावर कर दोगे। यही मेरे लिए उचित गुरुदक्षिणा है। बोलो, क्या तुम मेरी गुरु दक्षिणा मुझे दे सकोगे?...”

दयानंद ने गुरु के सम्मुख अपना शीश झुकाकर आज्ञापालन कर कहा, “गुरुजी, जो आप चाहते हैं, मैं वही करूंगा। मैं वेदों के ज्ञान के प्रचार में ही अपनी सांसें तोड़ दूंगा... कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।”

“भारत में दीन-हीन जन अनेक दुख पा रहे हैं। जाओ, उनका उद्धार करो। मत-मतांतरों के कारण जो कुरीतियाँ प्रचलित हो गई हैं, उनका निवारण करो, आर्य जनता की बिगड़ी दशा सुधारो। आर्य संतान का उपकार करो। ऋषि शैली प्रचलित करके वैदिक ग्रंथों के पठन-पाठन में लोगों को प्रवृत्तिशील बनाओ... गंगा-यमुना के निरंतर प्रगतिशील प्रवाह की भाँति लोकहित कामना से क्रियात्मक

जीवन बिताओ। अन्य किसी सांसारिक वस्तु की मुझे चाह नहीं है।”

विरजानंद जी उन्हें अतीव प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद देते हुए बोले, “बेटा दयानंद, मेरा आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ रहेगा। मेरे आशीर्वाद से कठोर पृथ्वी तुम्हारे लिए कोमल शैया बनेगी, संकटों के कांटे कोमल पुष्प बनेंगे, गर्म हवाएं सुगंधित वायु बनेगी और पत्थर बनेंगे कोमल तकिए। जाओ बेटा, सूर्य की तरह उदित होकर अज्ञानता के अंधकार को दूर करो, वेदों के ज्ञान का प्रचार करो। भारत की धरती बड़ी उत्सुकता के साथ तुम्हारी बाट देख रही है...”

उन्होंने फिर अंतिम शिक्षा दी, “मनुष्यकृत ग्रंथों में ईश्वर और ऋषियों की निंदा है, ऋषिकृत ग्रंथों में नहीं। वेद प्रमाण है। इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना।”

स्वामी दयानंद ने गुरु के अनमोल वचनों व आशीर्वाद को सुनकर प्रणाम किया और दंड हाथ में लेकर विश्व को ज्ञान देने निकल पड़े। अब वह संन्यासियों की चतुर्थ श्रेणी में दीक्षित होकर स्वामी दयानंद सरस्वती बन चुके थे। इससे पूर्व अद्वैत मत में दीक्षित होकर उनका नाम ‘शुद्ध चैतन्य’ भी पड़ चुका था।

ज्ञान प्रचार की चार क्रांतियां

मूलशंकर से चैतन्य और फिर स्वामी दयानंद सरस्वती बनकर दयानंद ने पौराणिक हिंदुत्व से शुभारंभ किया और दार्शनिक हिंदुत्व के आधार को वैदिक धर्म से जोड़ा।

वह शिक्षा प्राप्ति के बाद शैवमत तथा वेदांत का परित्याग कर सांख्ययोग को जान चुके थे, जो उनका दार्शनिक लक्ष्य भी था। वह यद्यपि एक धार्मिक पुरुष थे, किंतु उन्होंने धर्म को धार्मिक संकीर्णता की परिधि से बाहर कर व्यापक वैदिक धरातल प्रदान करने का निश्चय कर लिया था।

गुरु के आशीर्वाद से वह वैदिक धर्म के प्रचार में लग गए और प्रभु के चरणों में आत्मार्पण कर वैदिक संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु निकल पड़े। उन्होंने अपने मिशन को चार क्रांतियों के माध्यम में बांटा—वैदिक क्रांति, सामाजिक क्रांति, राष्ट्रीय क्रांति तथा आर्थिक क्रांति।

वैदिक क्रांति

वैदिक क्रांति अर्थात् प्रथम क्रांति का लक्ष्य वैदिक धर्म का प्रसार करना था। स्वामी जी की दृष्टि में जो पक्षपात रहित, न्यायोचित, सत्यभाषण युक्त, ईश्वराज्ञा तथा वेदों से अविरोद्ध था वही धर्म है। वे वेदों के अनुरूप आचरण करने का समर्थन करते थे। उनके वेदार्थ चिंतन के फलस्वरूप ही कई युगांतरकारी विचारधाराओं व धारणाओं का उद्भव हुआ।

उन्होंने वेदों के अनुसार जीवनयापन करने पर बल दिया। उनके अनुसार स्त्री, शूद्र आदि सहित सभी को वेद अध्ययन का अधिकार है। यह उनकी वेद संबंधी मानववादी विचारधारा थी। उन्होंने वेदों में निहित उच्चतर नैतिकता, आध्यात्मिक मूल्यों, दार्शनिक तत्वों एवं सामाजिक हित की दृष्टि से विहित विधानों से मानव जाति को परिचित कराया। असत्य और अन्यायपूर्ण धर्म का खंडन किया।

30/बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती



P.S. Library

सामाजिक क्रांति

दूसरी क्रांति भारतीय समाज में व्याप्त विषमताओं के विरुद्ध थी। नारी शोषण के विरोध सहित जाति, मत, संप्रदाय, भाषा, क्षेत्र व लिंग के आधार पर फैली सामाजिक असमानता के विरुद्ध वह सदा मुखर होते रहे। उन्होंने सभी को वेदों के अध्ययन का समर्थन किया।

राष्ट्रीय क्रांति

स्वामी दयानंद की तीसरी क्रांति राष्ट्रीयता के संबंध में थी। स्वराज्य की अवधारणा देने वाले वह प्रथम महापुरुष थे, जिन्होंने खुलकर स्वदेश व स्वशासन के पक्ष में आवाज उठाई। उनके मौलिक व आदर्श विचार 'वसुधैव कुटुंबकम्' तथा 'यत्र विश्व भवति एकनीडम्' के पक्षधर थे। उन्होंने वेद के आधार पर कहा, "सत्य वृहत्तंत उग्र दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथ्वी धारयन्ति।"

आर्थिक क्रांति

भारत की कृषि प्रधानता के आधार पर उन्होंने आर्थिक क्रांति का सूत्रपात किया। उन्होंने किसान को ही 'राजाओं का राजा' कहा तथा गौ के माध्यम से अपनी आर्थिक योजना प्रस्तुत की। किंतु उनका लक्ष्य विश्व का सर्वांगीण विकास करना था, जिसमें वह जीवन पर्यंत लगे रहे।

प्रथम चार वर्ष (1863-1869)

स्वामी दयानंद अपना वह समस्त ज्ञान विश्व में बांटना चाहते थे जो उन्हें अपने गुरुओं और अनुभव से मिला था। उनके गुरु की भी यही सर्वोपरि आज्ञा थी। उस समय वह 39 वर्ष के हो चुके थे। उन्होंने अपने उद्देश्यों के प्रथम चार वर्ष आगरा, ग्वालियर, अजमेर व पुष्कर में व्यतीत किए।

वैशाख संवत् 1920 (1863 ई.) के अंत में स्वामी जी मथुरा से आगरा आ गए। वहां उन्होंने यमुना किनारे भैरव मंदिर के समीप ही अपना आसन जमाया। स्वदेशी के समर्थक स्वामीजी अभी तक कोई सिला हुई वस्त्र नहीं पहनते थे, बल्कि वैदिक ऋषियों के समान ही एक बड़ा कपड़ा लपेटकर शरीर को ढांकते थे। इन्हीं दिनों उन्होंने 'पाखंड-खंडन' नामक पहली पुस्तक लिखी। संस्कृत में लिखी यह पुस्तक भागवत् खंडन पर लिखी गई थी। यहां उन्होंने लोगों को आकर्षित किया और उन्हें ज्ञान प्रदान किया।

मथुरा में वेद प्रचार करने के पश्चात् वह धौलपुर होते हुए आबू गए और

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/31

तत्पश्चात् ग्वालियर की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने देखा कि लगभग सभी स्थानों पर लोग पुराणों को अधिक श्रद्धा से पढ़ते हैं। इनमें भी 'श्रीमद्भागवत्' को सबसे अधिक आदर से पढ़ा जाता है किंतु उसे पढ़ने के बावजूद लोग उसके अनुसार आचरण व कर्म नहीं करते।

लोगों का मानना था कि श्रीमद्भागवत् का नौ दिनों तक पाठ करने से मनुष्य के पाप धुल जाते हैं और मोक्ष की प्राप्ति होती है। लोग बुरे कर्म करते हैं और 'श्रीमद्भागवत्' का पाठ कर पापों से छूटने का स्वप्न देखते हैं। अंधविश्वासों में जकड़े लोग दहेज और मृत्युभोज में अपने घरों तक को बेच देते थे और उनके पैसों पर पंडे-पुजारी मौज करते थे। ऐसा पाखंड देख स्वामीजी ने भागवत का खंडन किया और पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा।

उन्होंने लोगों से कहा, "श्रीमद्भागवत् का पाठ करने से मुक्ति नहीं मिल सकती। मुक्ति अच्छे कर्मों से मिलती है। बुरे विचारों को छोड़ो, वैदिक ज्ञान को ग्रहण करो। वैदिक ज्ञान को ग्रहण करने से ही पापों के बंधन कट सकेंगे, दुख दूर हो सकेंगे।"

ग्वालियर से होकर स्वामीजी जयपुर आए। जयपुर के कई राजे-रजवाड़ों ने उन्हें अपने महलों में आमंत्रित किया। वहां उन्होंने मूर्तिपूजा का खंडन किया। उनके ज्ञान से प्रभावित होकर अनेक राजा-महाराजा उनके अनन्य भक्त बन गए। यद्यपि कुछ राजा उनके धर्म विरोधी कार्यों से नाराज भी हुए, किंतु सत्यमार्गी स्वामी दयानंद ने उनकी तनिक भी परवाह नहीं की। उन्होंने चार मास तक जयपुर में रहकर जैन गुरु से भी शास्त्रार्थ किया।

जयपुर के पश्चात् उन्होंने अजमेर व पुष्कर में पदार्पण किया। पुष्कर प्रवास के दौरान वह ब्रह्मा मंदिर में रुके, किंतु वह तब भी मूर्ति पूजा के विरोधी थे। वहां के प्रसिद्ध विद्वान श्री वेंकट शास्त्री ने स्वामी जी से शास्त्रार्थ किया, किंतु वह स्वामीजी के अकाट्य तर्कों के आगे परास्त हो गए। उन्होंने अंत में घोषणा की—“स्वामी दयानंद का पक्ष ही सर्वथा सत्य है।”

तत्पश्चात् वह भी स्वामीजी के अनुयायी बन गए। उन्होंने अपनी कंठी उतारकर पुष्कर में अर्पण कर दी। उनके वहां उपस्थित सैकड़ों अनुयायियों ने भी उनके समान ही अनुसरण किया।

स्वामीजी की विद्वत्ता का लोहा सभी लोग मान चुके थे। बाइस दिनों तक पुष्कर प्रवास के दौरान वहां मार्कंडेय की गुफा से विभूति मंगाकर रमाया करते थे। यह गुफा पुष्कर से तीन कोस पूर्व की ओर स्थित है।

32/बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती

बाईस दिनों तक पुष्कर में प्रवास के बाद वह ज्येष्ठ बदी। संवत् 1923 को अजमेर पहुंचे। वहां उनकी भेंट प्रसिद्ध ईसाई विद्वानों राबिन्सन, पादरी ग्रे तथा शूलब्रेड के साथ हुई। स्वामीजी की ख्याति उन तक पहले ही पहुंच चुकी थी। वे जानते थे कि स्वामीजी दंडी गुरु विरजानंद के शिष्य हैं और ईसाई मत के विरुद्ध हैं।

भेंट होने पर वे स्वामी जी से बोले, “यदि आप इस प्रकार खंडन (प्रचलित धर्म व परंपराओं का) करेंगे तो जेल चले जाएंगे।”

स्वामी जी ने शांत भाव से उत्तर दिया, “मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी तो लोगों ने फांसी पर लटका दिया था।”

यह सुनकर वे अपना सा मुंह लेकर रह गए।

अजमेर के पश्चात् स्वामी जी ने किशनगढ़ जाकर वेदांत का प्रचार-प्रसार किया। इस बीच जयपुर नरेश महाराजा रामसिंह के आग्रह पर वह जयपुर पधारें। महाराजा द्वारा उन्हें जयपुर के राज्य मंदिर में पधारने के लिए विशेष निमंत्रण दिया गया था।

स्वामी ने उनका आग्रह स्वीकार कर राज्य मंदिर को अपने चरण कमलों से पावन किया, किंतु किसी कारणवश जयपुर नरेश वहां न पहुंच सके। यह देख स्वामी जी को बहुत दुख हुआ और वह वापस चले आए। अपने वहां न पहुंचने के लिए महाराजा द्वारा खेद व्यक्त किया गया। तत्पश्चात् महाराजा ने कई बार स्वामीजी को राज्य मंदिर पधारने का आग्रह किया, किंतु स्वामी जी ने उनके आग्रह को फिर कभी नहीं स्वीकारा।

जयपुर में धर्म प्रचार के पश्चात् वह मथुरा आए और वहां शैव, वैष्णव तथा शक्ति आदि संप्रदायों को अमूलक प्रमाणित किया। यहां भी उनके विरोधी बन गए जिन्होंने स्वामी जी को नीचा दिखाने की कोशिश की, किंतु वे नाकाम रहे। अंधविश्वासों व पाखंडों का विरोध करते हुए उन्होंने एकादशी आदि व्रतों को भी निरर्थक सिद्ध किया और केवल वेद को ही प्रमाणिक बताया। धुरंधर पंडित भी उनके तर्कों को नहीं काट सके।

हरिद्वार का कुंभ मेला

कुंभ स्रक्तांति के एक माह पूर्व चैत्र संवत् 1924 अर्थात् 1867 ई. में हरिद्वार में कुंभ का मेला लगा। यह मेला हर बारहवें वर्ष देश के विभिन्न चार निर्धारित स्थानों पर लगता है। हरिद्वार के अलावा अन्य तीन स्थान प्रयाग, उज्जैन व नासिक

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/33

है। क्योंकि देश के कोने-कोने से लोग इस मेले में भाग लेने आते हैं, अतः स्वामी जी के लिए यह वेदप्रचार का एक स्वर्णिम अवसर था। इसीलिए वह इस अवसर पर हरिद्वार पहुँच गए।

उन्होंने भीमगोड़े के ऊपर अपनी पर्ण कुटी बनाई तथा वहाँ ओउम लिखी पताका गाड़ कर पट्टिका भी लगा दी, जिस पर लिखा था-‘पाखंड खंडिनी पताका’। यह पौराणिक धर्म के गढ़ में वैदिक धर्म प्रचार का उद्घोष था।

स्वामी जी की पाखंड खंडिनी पताका ने मेले में आए लोगों को आकर्षित किया। स्वामी जी पताका के नीचे खड़े होकर उपदेश देते और लोगों से कहते, “केवल हरि की पौड़ी में स्नान करने से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्ष प्राप्ति के लिए वेदों की शरण में जाना होगा, वेदों के ज्ञान को अपनाना होगा। जो मनुष्य मर गया है, उसके नाम पर दान-दक्षिणा देना और पिंडदान करना व्यर्थ है। यह समझना बहुत बड़ी अज्ञानता है कि पिंडदान में दी गई वस्तुएं मरे हुए मनुष्यों को मिल जाती हैं, जो मनुष्य मर गया है उसे कोई वस्तु कैसे मिल सकती है।”

यद्यपि प्रारंभ में बहुत कम लोग इसके प्रचार से आकर्षित हुए किंतु धीरे-धीरे लोग उनके अनमोल वचनों का स्वागत करने लगे। किंतु धर्म के ठेकेदारों के लिए स्वामी जी के उपदेश खतरे की घंटी थे। ऐसे में तथाकथित धर्म रक्षक साधु तथा ब्राह्मण भी उनसे शास्त्रार्थ करने कुटी पर आए, लेकिन स्वामीजी ने अपने अकाट्य तथ्यों एवं तर्कों से उन्हें निरुत्तर कर दिया। उन्होंने मेले में घूम-घूमकर वहाँ के प्रत्येक दृश्य को देखा। इन करुण दृश्यों ने उनके हृदय को द्वेष से भर दिया।

मेले में आए साधु व दूसरे लोग बिना किसी की परवाह किए ब्रह्मकुंड में नहाने के लिए बेतहाशा दौड़ रहे थे और कुंड में कूद-कूदकर स्नान कर रहे थे। कहा जाता है कि कुंभ के दिन एक निश्चित समय पर स्नान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसी अंधी दौड़ में दौड़ते हुए वे बच्चों, महिलाओं और कमजोर लोगों को अपने पैरों तले रौंदते चले गए।

वहाँ नागा साधुओं का भी जमघट था, जो निर्वस्त्र होकर बेशर्मी से महिलाओं व बच्चों की भीड़ में चले जा रहे थे। उन्हें न तो किसी प्रकार की लाज थी और न ही शर्म। वे बेशर्मी की तरह स्वयं को कुंभ का स्वामी समझ कर सर्वत्र फैले हुए थे। जबकि कुछ साधु गांजे, चरस व अफीम के नशे में डूबे हुए थे। कंकाल से दिखते उन साधुओं को चिलम फूंकते देख स्वामी जी का मन साधुवृत्ति से विरक्त होने लगा था।

वहां कुछ मठाधीश, साधु व महंत ऐसे भी थे, जो बड़े ठाटबाट से सजे-धजे हाथी-घोड़ों पर बैठकर आए थे। वे साधु कम सेठ-साहूकार ज्यादा नजर आ रहे थे। दूसरों को त्याग का उपदेश देने वाले स्वयं वैभव में डूबे हुए थे। जो साधु लोगों को लोभ-मोह त्यागने का उपदेश देते थे वही धर्म के नाम पर लोगों का शोषण कर रहे थे। लोगों को ठगकर अपनी जेबें भर रहे थे।

ईश्वर के नाम पर यह सब घटता देख स्वामी का हृदय करुणा से भीग गया। वह मन-ही-मन सोचने लगे कि आखिर इनका उपचार करना होगा, किंतु इसके लिए बहुत तपोबल व शक्ति की आवश्यकता होगी। प्रथमतः स्वयं को सृष्टि करना होगा ताकि समाज में फैली इन सभी कुरीतियों से एक साथ लड़ा जा सके। अतः उन्होंने तप करने का संकल्प किया।

तपस्या और पुनः धर्म प्रचार

स्वामी जी ने संकल्प अनुसार अपना सर्वस्व त्यागने व दान करने का निश्चय किया। उन्होंने अपने सारे उपकरणों को त्याग दिया। महाभाष्य की एक पुस्तक, एक स्वर्णमुद्रा तथा मलमल का एक थान भी गुरु विरजानंद की सेवा में अर्पित-कर मथुरा भेज दिया। वस्त्र के नाम पर उनके पास मात्र एक लंगोटी ही शेष थी। लंगोटी पहनकर और पूरे तन पर राख मलकर वह कौपीनधारी बन गए। साथ ही उन्होंने मौनव्रत धारण करने का भी प्रण किया और इसलिए उपदेश व शास्त्रार्थ को भी त्याग दिया। स्वामी दयानंद ने कई वर्षों तक कठिन तप व योग किया। सर्दी, गर्मी, बरसात का उनके तन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बड़े-से-बड़ा संकट भी स्वामी जी के संकल्प को न तोड़ सका।

स्वामी जी ने योग व तप की आग में स्वयं को तपाया और अपनी काया को दिव्य बना लिया। तप के बल से उन्हें चमत्कारी शक्तियां प्राप्त हुईं जो संसार को सत्यमार्ग दिखाने के लिए आवश्यक थीं।

अब तक उन्होंने अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण पा लिया था। वह अपने शरीर को किसी भी परिस्थिति के अनुसार ढाल सकने में समर्थ हो गए थे। वास्तव में योग व तप में बिताया गया यह समय उनके स्वास्थ्य सुधार की ही एक कड़ी था। वह योग से अपने शरीर को नियंत्रित कर सकते थे।

किंतु समाज में बढ़ते अधर्म को देख वह ज्यादा दिनों तक शांत न बैठ सके। मौन व्रत की निस्सारता बहुत जल्दी ही स्वामीजी के समक्ष प्रकट हो गई। लगभग ढाई वर्ष तपस्या में बिताने के बाद उन्होंने पुनः वैदिक सिद्धांतों के प्रचार का बीड़ा उठाया। वह एकांतवास छोड़कर पुनः कर्मक्षेत्र में आ गए और स्थान-स्थान पर भ्रमण कर धर्म-प्रचार करने लगे। उन्होंने पुनः स्थान-स्थान और नगर-नगर का भ्रमण किया। कई स्थानों पर उपदेश दिए और शास्त्रार्थ भी किया।

एकांतवास के पश्चात् वह गढ़मुक्तेश्वर गए। वहां एक माझी (मल्लाह) की कुटिया के समीप ही उन्होंने अपना डेरा डाला और रेत पर ही आसन जमाया।

रेत ही उनका आसन था और उनका बिछौना भी। जो कोई भी वहां आता स्वामीजी उसे अपने वचनों से कृतार्थ करते। स्वामीजी के रूप में लोगों को क्रांतिकारी, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक नेतृत्व के दर्शन होने लगे थे, वह प्रयाग-काशी आदि स्थानों पर घूमकर लोगों में वेदसम्मत ज्ञान का प्रचार करने लगे। लोगों पर उनका प्रभाव सहज ही होने लगा था और वे उनकी शिक्षाओं को ग्रहण करने लगे।

एक दिन स्वामीजी सर्दी के मौसम में ठंडी रेत पर लंगोटी पहने बैठे थे। बर्फाली हवाओं से समस्त जनमानस ठिठुर रहे थे किंतु स्वामी जी पर उस कड़कड़ाती ठंड का जरा भी असर नहीं पड़ रहा था। उसी समय एक अंग्रेज कलक्टर, एक पादरी के साथ वहां से निकला। वे कंपकंपाती सर्दी में स्वामी जी को एक लंगोटी में बैठे देख हैरान रह गए। वे दोनों गरम कपड़े पहनकर भी कांप रहे थे, जबकि स्वामीजी सहज ही ठंडी रेत पर विराजमान थे।

कलक्टर ने विस्मयचकित होकर उनसे पूछा, “हम गर्म कपड़े पहनकर भी ठंड से कांप रहे हैं और आप रेत में नग्न शरीर होकर बैठे हैं। आश्चर्य की बात है, क्या आपको ठंड नहीं लग रही?”

स्वामी जी ने शांत भाव से उत्तर दिया, “सर्दी शरीर को लगती है आत्मा को नहीं। मैंने शरीर को जीत लिया है। मैं इस समय केवल आत्मा हूं, केवल आत्मा। आत्मा पर दुःख-सुख तथा सर्दी-गर्मी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।”

योग की स्थिति में बैठे स्वामीजी जी पर पादरी ने व्यंग्य करते हुए कहा, “आप अच्छे-अच्छे पदार्थ खाते होंगे, गर्म औषधियों का सेवन करते होंगे, फिर ठंड क्यों लगेगी।”

पादरी की बातें सुनकर स्वामी जी मुस्कराते हुए बोले, “साहब! आप गोश्त और अंडे खाने वाले लोग हैं। निस्संदेह मदिरापान भी करते होंगे। योग और तप के बल को जानना आपके बाहर की बात है। तप और योग की शक्ति से सर्दी व गर्मी क्या, मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।”

उनकी ये बातें सुनकर वे दोनों हैरान भी हुए और परेशान भी, किंतु उन्होंने मन-ही-मन स्वामी जी की दृढ़ता व अभ्यास की प्रशंसा भी की।

एक अन्य दिन भी ऐसा ही चमत्कार स्वामी जी ने दिखाया। सर्दी के दिनों में उन्हें लंगोटी पहने देख एक विदेशी पर्यटक ने प्रणाम कर कहा, “स्वामीजी सर्दी में गंगा की रेत पर नग्न शरीर बैठना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। कुछ और करके दिखाएं तो मैं आपकी चामत्कारिक शक्तियों को मानूं।”

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/37

अगले ही पल स्वामी जी ने अपने अंगूठे से धरती को दबाया तो उनका पूरा शरीर पसीने से नहा गया। भयंकर सर्दी में शरीर से पसीने की बूंदें टपकते देखना उस पर्यटक के लिए आश्चर्य की बात थी। उसने स्वामी जी के चमत्कार को नमस्कार किया और उनका आशीर्वाद लेकर चला गया।

किंतु स्वामी जी का उद्देश्य ऐसे चमत्कार दिखाकर वाहवाही लूटना नहीं था, बल्कि वह तो भारत में वैदिक धर्म का प्रचार करना चाहते थे। किंतु वेदांत के प्रचार के साथ-साथ उन्होंने सामाजिक कुरीतियों को भी दूर करने का बीड़ा उठाया हुआ था, जिनके कारण समाज कई भागों में विभक्त था। वास्तव में यह स्वामी जी का सामाजिक आंदोलन था। तत्कालीन समाज जातिप्रथा, दहेज प्रथा, छुआ-छूत, नारी शोषण, सती प्रथा, बेमेल विवाह, बाल विवाह, भ्रूण हत्या जैसी कई कुरीतियों से ग्रस्त था। अधर्म, अन्याय और अज्ञान का नाश करने हेतु इन्हें मिटाया जाना भी अनिवार्य था। सामाजिक कुरीतियों व अंधविश्वासों की जड़ें भारतीय समाज को बहुत गहरे तक जकड़े हुए थीं। किंतु स्वामी जी ने अकेले ही ज्ञान के माध्यम से इन्हें मिटाने का साहस दिखाया।

स्वामी जी प्रचार करते हुए अनूपशहर पहुंचे। दोपहर के समय स्वामी जी को भूख लगी। उनके उपदेश सुनने वालों में उमेदा नामक एक नाई भी था। स्वामी जी को भूखा जानकर वह अपने घर से उनके लिए भोजन की थाली ले आया। स्वामी जी ने निस्संकोच विनम्रता से भोजन किया।

यह देख ऊंची जाति के लोगों ने आश्चर्य भी किया और आपत्ति भी, “स्वामी जी, आप नाई के घर का भोजन खा रहे हैं? हम लोग तो नाई के घर का भोजन कभी नहीं करते।”

यह सुनकर स्वामी जी ने उत्तर दिया, “मैं तो संन्यासी हूं। संन्यासी के लिए सारा संसार ही उसका परिवार होता है। मेरे लिए भी न तो कोई ब्राह्मण है और न ही कोई नाई। सभी अपने हैं, सभी मनुष्य हैं। वेदों में भी जाति-पाति का कोई स्थान नहीं है। न कोई ऊंचा है और न कोई नीचा। आप सभी को भी ऊंच-नीच और छुआछूत का भेद भुलाकर एक दूसरे से प्रेम करना चाहिए। इससे आप सबकी तो भलाई होगी, इससे देश और समाज का भी भला होगा। यह रोटी तो गेहूं की है, इसलिए मैं इसे अवश्य खाऊंगा।”

उनकी धर्म निरपेक्षता देख वहां उपस्थित लोग गद्गद हो उठे। स्वामी जी की दृष्टि में सभी लोग समान थे। वह सभी प्रकार के कार्यों को एक समान मानते थे।

एक दिन एक धुनिए ने प्रार्थना करते हुए पूछा, “स्वामी जी, जप के अतिरिक्त मुझे और क्या काम करना चाहिए, जिससे मेरा कल्याण हो?”

स्वामी जी ने उत्तर दिया, “सदाचारपूर्वक जीवन व्यतीत करो। जितनी रुई किसी से लो उतनी ही रुई उसे धुनकर वापस दो। यह सव्यवहार ही तुम्हारे लिए एक उत्तम कल्याणकारी कर्म है।”

हत्या का प्रयास और निर्भय स्वामी जी

इधर स्वामी जी के भक्तों व अनुयायियों की संख्या बढ़ रही थी तो दूसरी ओर उनके विरोधी भी बढ़ रहे थे। उनके वेदांत प्रचार और परंपरागत धार्मिक बंधनों व रूढ़ियों के खंडन से उनमें नाराजगी पैदा हो गई। वे उनकी हत्या करने के प्रयास करने लगे। यद्यपि स्वामी जी अपने विरोधियों के इरादे से परिचित थे किंतु वह निर्भय होकर अपने कार्यों में लगे रहे।

स्वामी जी की बढ़ती प्रसिद्धि से अनूपशहर के ब्राह्मण उनकी हत्या के लिए एकजुट हो गए। एक दिन एक ब्राह्मण स्वामी जी के पास आया और उन्हें पान खाने को दिया। उन्होंने पान लेकर सहज भाव से मुंह में रख लिया, किंतु वह उसी क्षण जान गए कि वह पान विषयुक्त है। उन्होंने उस समय ब्राह्मण से कुछ नहीं कहा।

वह उसी समय गंगा पार चले गए और बस्ती व न्योली कर्म करके विष निकाल दिया। स्वामी जी ने किसी को भी यह बात नहीं बताई थी किंतु यह बात शीघ्र ही अनूपशहर के तहसीलदार सैयद मुहम्मद को पता चल गई। वह स्वयं स्वामी जी का अनन्य भक्त था। उसने तुरंत उस अपराधी ब्राह्मण को पकड़कर कैद में डाल दिया।

स्वामी जी यह बात पता चलने पर स्वयं तहसीलदार के पास गए। उन्होंने तहसीलदार से कहा, “मैंने सुना है कि आज आपने मेरे लिए एक व्यक्ति को कैद किया है। मैं मनुष्यों को मुक्ति दिलाने आया हूँ, बंधन में डलवाने नहीं। अतः आप उसे आजाद कर दें।”

तहसीलदार सैयद मुहम्मद स्वामी जी का यह क्षमाभाव देखकर आश्चर्यचकित रह गया। स्वामी जी के विनम्र निवेदन पर उसने उस ब्राह्मण को छोड़ दिया। स्वामी जी ने उस व्यक्ति पर मुकदमा भी नहीं किया। स्वामी जी के विचारों के कारण वह ब्राह्मण भी उनका अनन्य भक्त बन गया।

वह एक सच्चे संन्यासी थे, जिन्होंने अपनी समस्त कामनाओं, इच्छाओं और

वासनाओं का त्याग कर दिया था और उन पर पूरी तरह नियंत्रण पा लिया था। वह अपने शरीर के गुलाम नहीं थे, बल्कि शरीर उनका गुलाम था और किसी भी प्रकार के कष्ट को झेल सकता था। उनके तप व योगबल ने उन्हें मृत्युंजय समान बना दिया था।

वह गंगा के तट पर घूम-घूमकर वैदिक ज्ञान का प्रचार करते थे। वह कहते थे, “गंगा में डुबकी लगाने से कुछ नहीं होगा। तिलक लगाने, माला जपने तथा कंठी पहनने से भी कुछ नहीं होगा। कितने ही व्रत रखो, तरह-तरह के कितने ही नैवेद्य चढ़ाओ, पर कुछ भी नहीं होगा। वेदों के ज्ञान से ही तुम ईश्वर को समझ सकते हो, अपने आप को समझ सकते हो और धर्म के वास्तविक रूप को समझकर उसके मार्ग पर चलकर मानव जीवन को सार्थक कर सकते हो।”

स्वामी जी की शिक्षा पाखंड, विशेषतः अवतारवाद के विरुद्ध भी थी। वे अपने उपदेशों में प्रायः कहा करते थे, “ईश्वर का अवतार नहीं होता। ईश्वर एक है। एक ईश्वर भिन्न-भिन्न रूप धारण कैसे कर सकता है। अतः अवतारवाद के प्रपंचों में मत फँसो। एक ईश्वर में विश्वास करो और उसी की उपासना में मन लगाओ। तुम्हें शांति तो मिलेगी ही तुम्हारा कल्याण भी होगा।”

स्वामी जी के इन उपदेशों से तथाकथित गुरुओं का धंधा फीका पड़ने लगा था। स्वामी जी निर्भयता से उनकी आलोचनाओं के उत्तर दिया करते थे। अतः उन पर सदैव हमले का खतरा बना रहता था। वह प्रायः भोर के समय में ही योग व ध्यान किया करते थे। यह बात ब्राह्मणों को पता थी।

एक दिन भोर के समय में एक साधु गंगा के तट पर आसन लगाए बैठे थे। स्वामी जी के विरोधियों ने अंधेरे में उस साधु को ही दयानंद समझा और उसे उठाकर पानी में फेंक दिया। पानी में गिरते ही वह ‘बचाओ-बचाओ’ चिल्लाने लगा। जब उन लोगों को अपनी भूल का एहसास हुआ तो तुरंत उस साधु को बाहर निकाला।

किंतु एक दिन उनके विरोधियों ने उन्हें सचमुच उठाकर गंगा में फेंक दिया। उस समय भी वह गंगातट पर ध्यानमग्न बैठे थे और योग साधना कर रहे थे। विरोधियों ने समझा कि स्वामी जी की डूबकर मृत्यु हो गई है, किंतु स्वामी जी योग के बल पर भीतर ही पानी में काफी देर तक बैठे रहे। उनकी योगक्रिया ही उनकी जीवन रक्षक बनी।

ऐसे ही एक दिन वह गंगा के पानी में लेटे हुए थे। उनका आधा शरीर पानी के भीतर था और आधा बाहर। सहसा वहां एक बड़ा सा मगरमच्छ आ गया। यह

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/41

देख किनारे पर खड़े लोग चिल्लाने लगे किंतु स्वामी जी निर्भय होकर यथावत् लेटे रहे। मगरमच्छ उनके पैरों तक आकर वापस चला गया।

बाहर आकर स्वामी जी बोले, “मगरमच्छ मेरा क्या करेगा? जब मैं उसका बुरा नहीं चाहता तो वह मेरा बुरा क्यों करेगा?”

स्वामी जी के जीवन में निर्भयता की ऐसी कई घटनाएं घटती रहीं। एक दिन कर्णवास के राजा राव कर्णसिंह ने स्वामी जी को रासलीला देखने के लिए आमंत्रित किया, किंतु स्वामी नहीं आए। उन्होंने कहा, “कैसे लोग हैं जो अपने पूर्वजों को नचाते और उनका स्वांग रचते हैं? उन्हें पवित्र आचरण वाली स्त्रियों को सभी के सामने नचाते हुए भी शर्म नहीं आती। क्या वे अपनी मां व बहनों को भी इस प्रकार नचा सकेंगे?”

राव कर्णसिंह वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी रंगाचार्य के शिष्य थे। वह स्वामी जी के पास पहुंचे और कहने लगे, “याद रखो, यदि मेरे सामने तुमने हमारे गुरु की निंदा की तो मैं बुरी तरह बरताव करूंगा।

स्वामी जी निर्भयता से बोले, “मैं किसी की निंदा नहीं करता। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही कहना अपना धर्म समझता हूं।”

स्वामी जी की बात सुनकर कर्णसिंह अत्यंत क्रोधित हो उठे। उनकी आंखों में लहू उतर आया। बात करते-करते उनका हाथ बार-बार तलवार की मूठ पर भी जाने लगा।

यह देख स्वामी जी बोले, “राव साहब, तलवार की मूठ को बार-बार क्यों छूते हो? तलवार टकराने का चाव हो तो संन्यासी से क्यों, जयपुर-जोधपुर के नरेशों से युद्ध करो।”

राव साहब ने तमतमाकर अपने लठैतों सहित उन पर आक्रमण कर दिया। उनके लठैतों ने जैसे ही स्वामी जी पर हमला किया, स्वामी जी ने वीरतापूर्वक उनका सामना कर सबको धूल चटा दी। अपने लठैतों को भागता देख कर्णसिंह ने तलवार से स्वयं उनपर हमला बोल दिया।

स्वामी जी भी चौकन्ने थे। उन्होंने कर्णसिंह की तलवार छीनकर उन्हें भी धक्का देकर गिरा दिया। स्वामी जी ने उनकी तलवार जमीन पर टिकाकर उसके दो टुकड़े कर डाले और उन्हें दूर फेंककर बोले, “मैं संन्यासी हूं, मेरे हाथों तुम्हारा अनिष्ट नहीं होगा।”

कहा जाता है कि राव साहब अपनी इस पराजय पर लज्जित हुए और चुपचाप वहां से चले गए। स्वामी जी के हितैषियों ने उन्हें थाने में रिपोर्ट करने की सलाह

दी। किंतु स्वामी जी ने उनके आग्रह को अस्वीकार करते हुए कहा, “मैं संन्यासी हूँ। संन्यासी का धर्म क्षमा होता है। अपने धर्म को कैसे छोड़ सकता हूँ और फिर मैं जगत् का कल्याण करने के लिए निकला हूँ, मनुष्यों को दुःख में फंसाने के लिए नहीं।”

स्वामी जी के भक्त उसकी क्षमावृत्ति को देखकर आश्चर्य चकित रह गए।

मूर्तिपूजा का विरोध

भारत और हिंदू धर्म में मूर्तिपूजा के माध्यम से ईश्वर की पूजा करने की परंपरा रही है। पुरातनकाल से ही लोग मूर्तियों को सजाते, भोग लगाते और उन्हें इष्ट देव के रूप में पूजते रहे हैं। किंतु स्वामी जी का वेदांत दर्शन मूर्तिपूजा के विरुद्ध रहा। उन्होंने ईश्वर भक्ति के दो मार्ग बताए—ज्ञान का मार्ग तथा भक्ति या प्रेममार्ग।

ज्ञान मार्ग में किसी प्रतीक की आवश्यकता नहीं होती। वह सगुण और साकार होता है। जबकि वेदों में केवल निर्गुण और निराकार उपासना को महत्व दिया गया है। स्वामी जी ने भी निर्गुण उपासना को स्वीकार कर साकार और सगुण उपासना का खंडन किया।

उन्होंने रासलीला व अवतारवाद का खंडन करते हुए कहा, “ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता, अतः वह लीलाएं भी नहीं करता। ईश्वर की लीलाओं के रूप में रामलीला और रासलीला करना ईश्वर का उपहास उड़ाना है।”

बौखलाए ब्राह्मणों को अपना आसन गिरता नजर आया तो उन्होंने स्वामी जी को नीचा दिखाने के लिए एक अन्य मार्ग अपनाया। उन्होंने संगठित होकर उन्हें वाद-विवाद के लिए आमंत्रित किया। कर्णवास में शास्त्रार्थ का आयोजन किया गया।

एक ओर अकेले स्वामी जी थे तो दूसरी ओर शास्त्रों के महान विद्वान हरिवल्लभ शास्त्री अपने 6-7 पंडितों के साथ बैठे थे। यह शास्त्रार्थ निरंतर 7-8 दिनों तक चलता रहा। प्रतिदिन देर रात तक शास्त्रार्थ होता, स्वामी जी उनके सभी तर्कों के उत्तर देते और उनकी काट भी करते। शास्त्रार्थ के अंतिम दिन हरिवल्लभ ने स्वामी जी के ज्ञान का लोहा मान लिया। स्वामी जी ने अपने तर्कों से सिद्ध कर दिया कि मूर्ति-पूजा वेदों के विरुद्ध है।

हरिवल्लभ स्वामी जी के तर्क ज्ञान से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने सम्मुख रखी सभी मूर्तियां गंगा में प्रवाहित कर दीं। उनके कुछ भक्तों ने भी

उनका ही अनुसरण किया। इस घटना से स्वामी जी का यशगान चहुँओर फैल गया। कई लोगों ने उनका शिष्यत्व भी स्वीकार कर लिया।

यह खबर काशी में आग की तरह फैल गई और कर्णवास तक जा पहुँची। कर्णवास और उसके आस-पास के पंडितों के हाथों में यह एक सुअवसर था। वे स्वयं तो स्वामी जी को पराजित नहीं कर सके थे, इसलिए उन्होंने काशी के पंडितों का सहारा लिया। उन्होंने काशी जाकर वहाँ के पंडितों को अपने पक्ष में कर लिया और उनसे यह निर्णय-पत्र भी लिखवा लिया कि मूर्ति-पूजा वेदों के विरुद्ध नहीं है। ईश्वर का अवतार होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है, “जब पृथ्वी पाप से दब जाती है तो धर्म के उद्धार के लिए मैं स्वयं अवतीर्ण (अवतरित) होता हूँ...”

पंडितों ने वह निर्णय-पत्र स्वामी जी को दिया ताकि वह शास्त्रार्थ ही न कर सकें और वापस लौट जाएं। किंतु निर्णय-पत्र को देखते ही स्वामी जी का निर्णय अधिक दृढ़ हो गया कि जब तक वे शास्त्रार्थ में काशी के पंडितों को पराजित नहीं कर लेंगे। तब तक उनकी विजय को सच्ची विजय नहीं माना जाएगा।

अतः स्वामी जी ने पैदल भ्रमण करके ही अपने उद्देश्यों को पूरा करने का निर्णय लिया। वे काशी के बारे में प्रचलित धारणाओं को नहीं मानते थे कि काशी में मरने से मोक्ष मिलता है। वह लंगोटी पहने हुए ही पैदल-पैदल काशी की ओर चल पड़े। मार्ग में वह रुक-रुककर वेदांत धर्म का प्रचार करते और फिर आगे बढ़ जाते।

अपने उपदेशों में वह लोगों को समझाते कि काशी दूसरा कैलास नहीं है। काशी में मरने से मोक्ष नहीं मिलता। काशी का हर कंकड़ भी शंकर नहीं है। लोगों को चाहिए कि अज्ञानता भरी बातों को छोड़ दें और वैदिक ज्ञान को अपनाएं। वैदिक ज्ञान को अपनाने से ही वास्तविक सुख-शांति मिल सकती है।

स्वामी जी के इन उपदेशों की चर्चा काशी तक भी तुरंत पहुँच गई। समस्त काशी में उनकी चर्चा की जाने लगी। उनकी चर्चा का प्रमुख कारण उनके मूर्ति-पूजा और अवतार विरोधी उपदेश थे। वह एक नौजवान, तेजोमय और बलिष्ठ संन्यासी थे। उनके ऐसे गूढ़ विचार लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए काफी थे।

यह वेदांत धर्म की विजय थी। धर्म के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी घटना थी, जिसके फलस्वरूप लोगों ने मूर्तियों को गंगा में बहा दिया और मंदिरों को पाठशालाओं का रूप दे दिया। यह कार्य सर्वप्रथम फर्रुखाबाद के सेठ वंशीलाल

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/45

ने किया। उन्होंने मंदिर में शिवलिंग स्थापित करने की बजाय वहां एक पाठशाला खोल दी। उनके इस कार्य का कई लोगों ने अनुसरण किया। इस कीर्ति से स्वामी जी का ज्ञान स्वयमेव सर्वत्र फैलने लगा।

तत्पश्चात् स्वामी जी ने गंगातट के नगरों में परिभ्रमण करने का निश्चय किया। इस भ्रमण में उन्होंने गंगा के समीप के हजारों लोगों को जनेऊ धारण करवाकर अपना शिष्यत्व प्रदान किया, संध्या सिखाई, गायत्री मंत्र का जाप सिखाया और उपदेश द्वारा उनके ज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने लगभग ढाई वर्षों तक गंगा तट पर भ्रमण करते हुए वैदिक धर्म का प्रचार किया।

काशी में शास्त्रार्थ

उन दिनों काशी हिंदू शास्त्रों के विद्वानों व महापंडितों का केंद्र था। वहां प्रायः धर्म के ठेकेदारों का जमावड़ा लगा रहता था। वहां नित्य शास्त्रार्थ होते थे और धर्म की तार्किक परिभाषाएं रची जाती थीं। स्वामी जी की हार्दिक इच्छा थी कि वह मूर्तिपूजा के इस महान केंद्र में जाकर काशीवासियों को वैदिक धर्म का वास्तविक स्वरूप दिखलाएं। उन्हें विश्वास था कि वह काशी में पौराणिक महादुर्ग को वैदिक धर्म से विजयी कर सकेंगे! उनके धार्मिक सुधार काशी के पौराणिक विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाएंगे।

भारत में काशी को दूसरा कैलास माना जाता है। कुछ लोग इसे विश्वनाथपुरी भी कहते हैं। कहा जाता है कि काशी में मृत्यु होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए स्वामी जी कार्तिक बदी 2, संवत् 1926 विक्रमी को काशी पहुंच गए। उनके आने का समाचार बिजली की तेजी के समान पूरे काशी नगर में फैल गया। उनके आने की चर्चा काशी नरेशों तक भी जा पहुंची। उन्होंने स्वामी जी को अपने राजभवन में आमंत्रित किया, किंतु स्वामी जी उनके राजभवन में नहीं गए; बल्कि उन्होंने अपना यह संदेश उन्हें भेजा, “मैं संन्यासी हूं। मेरा राजभवन में क्या काम? मैं तो काशी के पंडितों से शास्त्रार्थ करने आया हूं। यदि महाराज चाहें तो शास्त्रार्थ सभा का आयोजन कर सकते हैं।”

स्वामी जी का यह निवेदन काशी नरेश तथा पंडितों के लिए एक चुनौती थी। अतः स्वामी जी के कहे अनुसार शास्त्रार्थ सभा का प्रबंध करवा दिया गया। शास्त्रार्थ सभा में काशी नरेश अध्यक्ष के आसन पर विराजमान थे। एक ओर नग्न बदन और लंगोटी पहने स्वामी जी अकेले आसन पर बैठे थे तो दूसरी ओर कई पंडितगण वैभवशाली वस्त्र पहने मस्तक पर त्रिपुंड (तिलक) लगाए गर्व से बैठे

थे। शास्त्रार्थ को देखने के लिए कई विद्वान व काशी के नागरिक भी उपस्थित थे।

शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। दोनों ओर से प्रश्न हुए और उनके उत्तर दिए जाने लगे। एक ओर स्वामी जी अकेले थे तो दूसरी ओर उनके विरोध में कई महापंडित। किंतु स्वामी जी के तर्कों के आगे वे एक-एक करके निरुत्तर होते गए। सहसा एक पंडित ने उठकर फटे-पुराने कागज के दो टुकड़े स्वामी जी के आगे रख दिए, जिन्हें एक आम व्यक्ति के लिए पढ़ना संभव नहीं था, किंतु जब स्वामी जी उसे भी पढ़ने लगे तो उसी समय पंडितों ने शोरगुल मचा दिया और वे उठकर खड़े हो गए।

काशी के विद्वान तर्क की कसौटी पर असफल हो गए तो उन्होंने कूटनीति से काम लिया। वे खड़े होकर जयनाद करने और शोर मचाने लगे। सर्वत्र अव्यवस्था फैलने लगी। कुछ लोगों ने स्वामी जी के ऊपर कंकड़-पत्थर भी फेंके। कुछ उपद्रवी पंडितों ने उन्हें अपमानित करने का भी प्रयास किया। इसमें काशी के कुछ शरारती व उत्पाती मुसलमानों ने भी उन पंडों का साथ दिया, किंतु स्वामी जी किसी चट्टान की भांति अडिग रहे।

यद्यपि काशी नरेश की उपस्थिति के कारण कोई अप्रिय घटना नहीं घटी, किंतु शास्त्रार्थ शोरगुल के कारण बंद करना पड़ा। स्पष्ट हो गया था कि अपने को सही साबित करने का कोई उपाय न देख काशी के पंडे बौखला गए थे। किंतु स्वामी जी के अकाट्य तर्कों ने काशी नरेश को अवश्य प्रभावित किया और वह उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना नहीं रह सके।

इस घटना के बाद भी स्वामी जी कई बार काशी गए और पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए भी ललकारा, किंतु कोई भी उनसे शास्त्रार्थ करने सामने नहीं आया। यह साबित हो चुका था कि काशी के पंडे स्वामी जी के तर्कों से पराजित हो चुके हैं। तत्पश्चात वे पंडे उनके विरुद्ध तरह-तरह के षड्यंत्र रचने लगे, ताकि उन्हें रास्ते से हटाया जा सके।

स्वामी जी का व्यवहार तब भी शांत ही रहता था। इतने विरोधी होने पर भी वह उनके प्रति वैरभाव नहीं रखते थे। उनके मृदु और सद्भावपूर्ण व्यवहार से उनके विरोधी भी उनके भक्त बनने लगे थे।

तन और मन के बली

अब तक उन्होंने कई स्थानों का दौरा कर लिया था। बाल ब्रह्मचारी स्वामी

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/47

जी ने भोग और तप के बल पर अपने शरीर पर नियंत्रण कर लिया था। इसलिए उन पर किसी भी प्रकार के मौसम का असर नहीं होता था। प्रत्येक मौसम में वह एक लंगोटी ही पहने रहते थे। वह प्रारंभ से ही पूर्ण शाकाहारी थे और उन्हें स्वाद की कोई चिंता नहीं होती थी। उन्हें जैसा भोजन मिलता वह उसे वैसा ही ग्रहण कर लेते। योग साधना के बल पर उनका मुखमंडल ओजपूर्ण और शरीर तेजस्वी व बलशाली बन चुका था। इसी कारण वह किसी भी विपत्ति का सामना आसानी से कर लेते थे।

काशी में प्रचार के बाद वह प्रयाग के कुंभ मेले में प्रचार करने लगे और वहां से आगे मिर्जापुर चले गए। एक बार वह अपने एक भक्त के साथ जा रहे थे। सहसा उनके मार्ग में एक उन्मत्त सांड आ गया। वह हुंकार भरता हुआ उनकी ओर झपटा। यह देखकर सभी भक्तगण भाग खड़े हुए किंतु स्वामी डटकर खड़े रहे। सांड कुछ दूर आकर खड़ा हो गया और स्वामी जी भी उसे एकटक देखते रहे। सांड भी उन्हें घूरता रहा और कुछ देर बाद वह स्वयं ही पीछे की ओर लौट गया। यह नजारा देखकर सभी भक्तगण आश्चर्य चकित रह गए।

एक भक्त ने स्वामी जी से पूछा, “महाराज, यदि यह सांड आप पर आक्रमण कर देता तो?”

स्वामी जी ने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया, “मैं उसके सींगों को पकड़कर उसे पीछे की ओर धकेल देता।”

यह बात भक्तजनों के लिए आश्चर्यजनक थी, किंतु स्वामी जी का शारीरिक बल ऐसी घटनाओं से बहुत ज्यादा था। ब्रह्मचर्य, योग व तप के कारण उनका शरीर बलशाली, निरोगी, ओजपूर्ण व तेजोमय हो चुका था। यह स्वामी जी के संयम व आत्मनियंत्रण का ही परिणाम था।

पुनः हत्या का प्रयास

स्वामी जी वहां से आगे बढ़ते गए और उनका वेदांत प्रचार भी देश के विभिन्न भागों में पहुंचने लगा। वह प्रचार करते हुए गढ़वाल तक जा पहुंचे। उधर राव कर्णसिंह अपमान की अग्नि में जल रहा था। वह किसी न किसी प्रकार स्वामी जी को हानि पहुंचाकर अपने अपमान का बदला लेना चाहता था और प्रायः ऐसे अवसर ढूँढ़ता रहता था। जब उसे स्वामी जी के गढ़वाल प्रवास का पता चला तो उसने पुनः उनकी हत्या का षडयंत्र रचा।

कहा जाता है कि उसने अपने नौकरों को स्वामी जी की हत्या के लिए भेजा।

वह अपने तीन नौकरों के साथ हाथ में चमचमातीं तलवारें लेकर उनके पास जा पहुँचा। उस रात स्वामी जी आसन लगाकर ध्यान मग्न थे। उनका मुख तेज की काँति से आभामान था। स्वामी जी को उनके आने का आभास हुआ तो उन्होंने एक सिंह समान हुंकार गर्जना भरी, जिसे सुनते ही उसके तीनों नौकर डरकर भाग गए।

एक बार कर्णसिंह ने पैसे देकर एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य को यह काम सौंपा। तब भी स्वामी जी रात के समय ध्यानमग्न थे और तप के तेज से उनका मुखमंडल दमक रहा था। वह हत्यारा उनके तेजस्वी रूप को देखते ही मुग्ध हो गया और बिना वार किए ही लौट गया। कर्णसिंह का यह वार भी खाली चला गया, किंतु वह शांत नहीं बैठा।

एक बार कर्णसिंह ने तीन चार लोगों को उनकी हत्या के लिए भेजा। उस समय स्वामी जी सो रहे थे। वे तीनों उनकी बगल में खड़े होकर उन्हें देखने लगे। अचानक स्वामी जी ने करवट बदली तो उनके हाथ-पैरों का धक्का उन हत्यारों को लग गया, जिससे वे तीनों जमीन पर जाँ गिरे। इस शोरगुल से स्वामी जी की आँख खुल गई और वे तीनों अपनी-अपनी तलवारें छोड़कर भाग खड़े हुए।

स्वामी जी को इस बात का आभास हो गया था कि वे हत्यारे कर्णसिंह के लोग थे। इस घटना से क्षुब्ध गढ़वाल के ठाकुरों ने स्वामी जी को सलाह दी कि वह कर्णसिंह को गिरफ्तार करवा दें। किंतु क्षमाशील, स्नेह हृदय वाले स्वामी जी ने कहा, “मैं संन्यासी हूँ, संन्यासी का धर्म है, लोगों को प्यार देना। मित्र और स्नेही को तो सभी लोग प्रेम करते हैं, पर संन्यासी उन्हें भी प्यार देते हैं, जो उनके विरोधी होते हैं।”

स्वामी जी ऐसे षड्यंत्रों से कभी विचलित नहीं हुए। अनेक बार कोपीन धारी स्वामी जी ने निहत्थे और अकेले ही चालीस-पचास मनुष्यों के दल का सामना किया था। उनकी हत्या का प्रयास करने वाले संभवतः नहीं जानते थे कि स्वामी जी का नश्वर शरीर भले ही न रहे, किंतु उनकी क्रांतिकारी विचारधारा को कभी भी नष्ट नहीं किया जा सकेगा।

योग शक्ति के चमत्कार

स्वामी जी ने योगशक्ति व तप के बल पर कई चमत्कारी कार्य किए थे। उन्होंने कई बार अपनी रक्षा के अलावा दूसरों की प्राण रक्षा भी की। योग शक्ति का प्रयोग उनके लिए एक साधारण सी बात थी। उनका मानना था कि योग शक्ति से ही समस्त शक्तियां पराभूत होती हैं।

स्वामी जी उन दिनों मथुरा में प्रचार कर रहे थे। यद्यपि उनके कई भक्त बन चुके थे किंतु शत्रुओं की संख्या भी अधिक थी। काशी के पंडों की भांति यद्यपि मथुरा के लोगों ने उनकी हत्या का प्रयास नहीं किया किंतु उन्हें बदनाम करने की नाकाम कोशिश अवश्य की।

उन्होंने एक वेश्या को धन देकर स्वामी जी को बदनाम करने के लिए भेजा। वह रात के समय स्वामी जी के पास चुपचाप पहुंच गई। स्वामी जी लंगोटी पहने ध्यानमग्न थे। उनके मुख मंडल पर सदा की तरह तेज विद्यमान था। वह भीष्म के समान तेजस्वी नजर आ रहे थे। वह उनके पास पहुंचकर उन्हें चुपचाप निहारने लगी। उनके तेजस्वी भीष्मरूप ने उसे सम्मोहित कर लिया और वह उन्हें प्रणाम करके वापस लौट गई।

स्वामी जी के विरोधी उस वेश्या की इस हरकत पर बड़े शर्मिदा हुए। किंतु वे शांत नहीं बैठे। उन्होंने और अधिक पैसे देकर उसे स्वामी जी के पास जाने के लिए तैयार किया। वे उससे बोले कि वह स्वामी जी के पास जाकर बैठ जाए। उनसे प्रेमालाप करे। फिर शोर मचाकर लोगों को एकत्र कर स्वामी जी पर आभूषण छीनने का आरोप लगा दे।

न चाहते हुए भी वह पुनः रात में स्वामी जी के पास चली गई। रात के उस प्रथम चरण में स्वामी ध्यान मग्न मुद्रा में विराजमान थे। उनका मुख मंडल ब्रह्मचर्य और तप की ज्योति से दीप्तिमान था। वेश्या उनके पास जाकर खड़ी हो गई और पुनः उन्हें एकटक निहारने लगी। वह पहले की भांति ही इस बार भी उनके तेज के आगे कमजोर पड़ गई। उसने स्वयं ही अपने समस्त आभूषण उतारे

50/बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती

और उन्हें स्वामी जी के सम्मुख रखकर हाथ जोड़कर उनके चरणों में बैठ गई।

काफी देर बाद स्वामी जी का ध्यान हटा तो उन्होंने वेश्या को देखा। वेश्या ने उन्हें प्रणाम किया और आंखों में आंसू लिए विनम्रतापूर्वक बोली, “महात्मा, मुझे क्षमा कीजिए, मैं पापिनी हूँ। आपके विरोधियों के बहकावे में आकर मैं आपको धर्मभ्रष्ट करने आई थी। किंतु आपके तेज ने मेरे सोई हुई आत्मा को जगा दिया है। आप धन्य हैं, अब आप से एक ही प्रार्थना है कि आप सामने रखे मेरे इन आभूषणों को भेंट स्वरूप स्वीकार करें।”

उसकी बातों को सुनकर स्वामी जी बोले, “मैं संन्यासी हूँ। मैं अपने पास एक लंगोटी के अलावा और कुछ नहीं रखता। तुम्हारे इन आभूषणों का मैं क्या करूंगा? अतः अपने इन आभूषण को उठा कर ले जाओ, ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें।”

तत्पश्चात् वह वेश्या वापस लौट आई, किंतु उसका मन परिवर्तित हो चुका था। उसने सदा-सदा के लिए पाप कर्म छोड़कर सदाचारी जीवन अपना लिया।

केशवचंद्र से भेंट

उन दिनों बंगाल की राजधानी कलकत्ता एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र थी और भारत की राजधानी भी। यद्यपि भाषायी भिन्नता के कारण यह शेष भारत से भिन्न प्रदेश था। किंतु स्वामी जी राजधानी में ही वेदांत की हवा को बहाना चाहते थे ताकि वह स्वयं ही सारे देश में फैल जाएं। उन दिनों कलकत्ता ही बड़े साहित्यकारों विद्वानों तथा अधिकारियों का आवास क्षेत्र था।

स्वामी जी बंगाल के शेष भागों में प्रचार करते हुए कलकत्ता जा पहुंचे। उनकी वैदिक वाणी व भाषण शीघ्र ही चर्चा का विषय बन गए। यद्यपि उन दिनों कलकत्ता में ब्रह्म समाज का प्रभाव काफी गहराई तक फैला था। महान विद्वान केशवचंद्र सेन के प्रयासों द्वारा स्थापित इस समाज सुधार संगठन के सदस्य कलकत्ता के बड़े-बड़े लोग थे। स्वयं केशवचंद्र भी महान आचार्य थे और ब्रह्मसमाज के नेता भी। स्वामी दयानंद की चर्चा सुनकर वह भी उनके प्रवचन सुनने जाने लगे। स्वामी जी के उपदेशों व विचारों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वह उनके श्रद्धालु बन गए। वह स्वामी जी के व्यक्तित्व व विचारों का सम्मान करने लगे और उनकी दृष्टि में स्वामी जी एक श्रेष्ठ विद्वान बन गए किंतु केशवचंद्र ने कभी उनका शिष्यत्व ग्रहण नहीं किया।

केशवचंद्र ने ही स्वामी जी का भव्य स्वागत किया और दूसरे लोगों को भी

उनके उपदेशों का रसपान कराया। केशवचंद्र उनके विचारों से अत्यंत प्रभावित थे और चाहते थे कि स्वामी जी उनके साथ विदेश जाकर धर्म प्रचार करें। किंतु स्वामी जी केवल संस्कृत जानते थे और उन्हें अंग्रेजी का ज्ञान नहीं था। उन्होंने एक बार स्वामी जी से इस संबंध में कहा, “स्वामी जी, यदि आप अंग्रेजी भाषा जानते होते तो विदेशों में वैदिक ज्ञान का अच्छा प्रचार कर सकते थे। वेदों का अद्वितीय विद्वान अंग्रेजी नहीं, जानता अन्यथा इंग्लैंड जाते समय वह इच्छानुकूल साथी होता।।”

इस पर स्वामी जी ने भी हंसकर उत्तर दिया, “यदि आप संस्कृत जानते होते तो वेदों के ज्ञान के सार को भली-भांति समझ सकते थे। वेदों की भाषा ही श्रेष्ठ भाषा है। ईश्वर ने मुझे अंग्रेजी का ज्ञान न देकर अच्छा ही किया। मैं अपना सारा समय वेदों के पठन-पाठन में ही लगाता हूं। ...ब्रह्म समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है, जिसे लोग समझते ही नहीं।”

स्वामी जी के विचार सुनकर केशवचंद्र सेन थोड़े लज्जित हो गए। उन्हें ज्ञान नहीं था कि स्वामी दयानंद ऐसे संन्यासी हैं जो संस्कृत को ही सब कुछ समझते हैं और वेदों में ही सब कुछ पाते हैं। उनकी प्रथमतः रुचि स्वदेश, स्वधर्म, भारतीय, संस्कृति व साहित्य में थी।

देवेंद्र ठाकुर के आग्रह पर पहने संपूर्ण वस्त्र

स्वामी जी के व्याख्यान विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के पिता देवेंद्र ठाकुर ने भी सुने थे। उनके हृदय पर भी स्वामी जी के वचनों का अपूर्व प्रभाव पड़ा था। उन्होंने भी स्वामी जी का सत्कार किया और अपने घर ले गए। वहां रहकर स्वामी जी ने कई दिनों तक उनके संबंधियों व कुटुंबजनों को वेदामृत से सराबोर किया।

एक दिन देवेंद्र ठाकुर ने स्वामी जी से विनम्र आग्रह किया, “स्वामी जी, आपको वेदज्ञान का प्रचार वनों में नहीं बल्कि नगरों और गांवों में करना है। नगरों और गांवों में पुरुषों के अलावा स्त्रियां व बच्चे भी होते हैं। अतः आपको उनके बीच लंगोटी पहनकर नहीं बल्कि पूरे वस्त्र पहनकर जाना चाहिए। क्या ऐसा नहीं होता होगा कि स्त्रियों को आपके सामने आते हुए संकोच होता हो?”

देवेंद्र ठाकुर की बात का स्वामी जी पर जादू जैसा असर हुआ। वह समझ गए कि यदि समूचे समाज में अपने विचारों को फैलाना है तो पूर्ण वस्त्र धारण करने ही होंगे। उस दिन से वह पूरे वस्त्र पहनने लगे।

जब उन्होंने कलकत्ता छोड़ा तो लोगों के सामने संपूर्ण वस्त्रधारी स्वामी दयानंद सरस्वती थे न कि कोपीनधारी स्वामी जी।

स्वामी जी लोकहित के हितैषी थे। वह चाहते थे कि सभी लोगों को बिना किसी भेदभाव के ज्ञान का प्रकाश मिले।

एक बार राजा सुरेंद्रमोहन ने उन्हें अपने घर आने का न्यौता दिया ताकि वह स्वामी जी के उपदेशों को सुन सकें, किंतु स्वामी ने सविनय उनके आमंत्रण को ठुकरा दिया और कहा, “मैं एक व्यक्ति के लिए बहुतों की हानि नहीं कर सकता। यदि राजा महाशय मिलना चाहते हैं तो यहीं मिलने आ जाएं।”

एक बार किसी व्यक्ति ने स्वामी जी से कहा कि आप उपदेश में यह न कहा करें कि अमुक बात वेदसम्मत है बल्कि आप को कहना चाहिए कि मुझे ईश्वर ने साक्षात् यह बात बताई है। इस पर स्वामी जी ने तत्काल समाधान किया, “मैं सत्य के प्रचार के लिए असत्य का सहारा कभी नहीं ले सकता।”

बंगाल में प्रचार के दौरान स्वामी जी को ज्ञात हुआ कि अधिकांश लोग हिंदी भाषा ही समझते हैं, संस्कृत नहीं। अतः उन्होंने वेदों को सर्वत्र पहुंचाने के लिए हिंदी भाषा की अति आवश्यकता का अनुभव किया। उन्होंने तत्काल हिंदी भाषा सीखने का प्रण किया और शीघ्रता से सीखने भी लगे।

वह वेदांत प्रचार के साथ हिंदी भाषा सीखने के लिए भी लोगों को प्रेरित करने लगे, ताकि लोगों में शिक्षा के प्रति जागरूकता बढ़े। लोग स्वयं धर्मग्रंथों के अर्थ को समझें। उनमें स्वभाषा के प्रति जागरूकता बढ़े और वे एकसूत्र में बंधें। बंगाल में जब स्वामी जी की भेंट तत्कालीन वायसराय से हुई तो स्वामी जी ने उनसे कहा, “मैं चाहता हूँ कि विदेशियों का शासन भी पूरी तरह सुखदायक नहीं है। परंतु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक-पृथक शिक्षा, अलग-अलग व्यवहार का छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का व्यवहार, पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध कठिन है।”

स्वामी जी ने उन दिनों अपनी लेखन शैली में वेदों की व्याख्या में कई भाष्य लिखे। इन्हीं दिनों वह थियोसोफिकल सोसायटी की संस्थापक ऐनी बेसेंट के संपर्क में भी आए और कई दिनों तक उनके सहयोग से कर्म भी करते रहे, किंतु कुछ दिनों बाद उनमें वैचारिक मतभेद उत्पन्न हो गए और स्वामी जी उनसे अलग होकर अपने कार्य में लग गए, फिर भी वह स्वामी जी को ‘स्वराज का प्रथम प्रवक्ता’ ही कहती रहीं, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम घोषणा की थी, “भारत भारतियों के लिए है।”

दिल्ली दरबार में धार्मिक एकजुटता

1877 ई में तत्कालीन वायसराय लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक दरबार का आयोजन किया। देश के सभी प्रमुख राजनीतिक और धार्मिक नेता दिल्ली में ही एकत्रित थे। स्वामी जी अपना संपूर्ण जीवन वेदों के प्रचार में समर्पित करने के लिए प्रतिबद्ध थे, इसलिए वे बराबर घूमते रहते थे। विशेषकर जहां विद्वानों व शास्त्रियों का जमघट होता वहां स्वामी जी अवश्य जाते। दिल्ली दरबार उनके लिए एक ऐसा ही सुअवसर था जहां वह भारत के समस्त विद्वानों को एक साथ संबोधित कर सकते थे। इन नेताओं में केशवचंद्र सेन तथा सर सैयद अहमद खां जैसे राजनेता व समाजसुधारक भी शामिल थे।

दिल्ली दरबार की तैयारियां महीनों पहले शुरू हो चुकी थीं। दिल्ली को दुलहन की तरह सजाया गया था। जगह-जगह नवाबों, अमीरों, रियासतों के राजे-महाराजों के खेमे लग चुके थे। साथ ही बड़े-बड़े अंग्रेज अधिकारी भी आकर वहां डेरा डाल चुके थे। अवसर का लाभ उठाकर स्वामी भी दिल्ली आ गए।

दिल्ली दरबार के प्रारंभ के साथ ही स्वामी जी का वेदांत प्रचार भी प्रारंभ हो गया। दिल्ली में हर धर्म व मत के विद्वानों ने अपने-अपने खेमे लगाए थे। वे सभी अपने-अपने खेमों में अपने धर्म, मत, पंथ तथा संगठन का प्रचार कर रहे थे। स्वामी जी भी प्रतिदिन उपदेश देते और कहते, “भारत का कल्याण नए-नए सुधारों से नहीं होगा। सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण सुधार यह है कि भारत में वेदों के ज्ञान का प्रचार किया जाए। जब तक वेदों के ज्ञान का प्रचार नहीं होगा तब तक राजनीतिक सुधारों से काम नहीं चलेगा।”

स्वामी जी के उपदेशों ने वहां उपस्थित सभी लोगों को आकर्षित किया। कई लोग उनके शिष्य बन गए। उन्होंने सभी धर्मों में एकता स्थापित करने का एक अनूठा प्रयास किया। उन्होंने सभी आचार्यों, धार्मिक व सामाजिक सुधारकों को अपने निवास स्थान पर आमंत्रित किया। उनके आमंत्रण पर केशवचंद्र सेन, सर सैयद अहमद तथा कन्हैयालाल जैसे मनीषी की उनसे भेंट करने गए। उन्होंने सभी विद्वानों से वैदिक धर्म की पताका के नीचे एकत्र होकर देशकल्याण में लगने की प्रार्थना की। उन्होंने ऐसी मानव आचार संहिता तैयार करने का आव्हान किया जो सर्वानुमोदित हो।

स्वामी जी ने सबके सामने एकता संबंधी विचार रखे किंतु दुर्भाग्य से किसी ने भी उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उनके विचार वेदों पर

आधारित थे और उस समय प्रचलित प्रथाओं के विरुद्ध थे। लेकिन निस्संदेह उनके विचार सभी लोगों पर अपना गहरा प्रभाव अवश्य छोड़ गए थे। दिल्ली दरबार में दूसरे धर्मों के लोगों ने भी व्यक्तिगत रूप से स्वामी जी से भेंट की और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

चांदपुर की धर्म सभा

जिन दिनों दिल्ली में दिल्ली दरबार का आयोजन किया गया उन्हीं दिनों उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले में चांदपुर नामक स्थान पर एक धार्मिक मेला लगा। यह मेला प्रतिवर्ष इसी स्थान पर आयोजित किया जाता था। मेले में लोगों को आकर्षित करने के लिए कई आकर्षण थे। इन्हीं में एक आकर्षण था-धर्म सभा। मेले में आयोजित इस धर्म सभा में शास्त्रार्थ का भी आयोजन किया गया था जिसमें तीन विद्वान भी आमंत्रित थे। इन विद्वानों में मुस्लिम धर्म के मौलवी सैयद मुहम्मद, ईसाई धर्म के पादरी नोबुल तथा वैदिक धर्म के स्वामी विवेकानंद शामिल थे। तीनों विद्वान अपने-अपने भक्तों तथा शिष्यों के साथ सभा में पधारे थे।

इन तीनों विद्वानों ने कई दिनों तक परस्पर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ के विषयों तथा प्रश्नोत्तरों को प्रकाशित कर लोगों को पढ़ने के लिए दिया गया, ताकि वे उसके आधार पर धर्म समीक्षा कर सकें और धर्म को समझ सकें। जिसने भी उन्हें पढ़ा उसने यह माना कि स्वामी जी महान विद्वान और धर्मज्ञाता हैं। उनकी बातें ज्ञानपूर्ण तथा तर्कसंगत हैं।

‘सत्यार्थ प्रकाश’ की रचना और आर्य समाज की स्थापना

स्वामी जी ने एक बार अपने उदयपुर प्रवास के दौरान अपने उपदेशों को मूर्तरूप देने पर विचार किया। ऐसे में उनका लक्ष्य उनके सामने आया और उन्होंने अपने विचारों को ‘सत्यार्थ प्रकाश’ नामक ग्रंथ में संकलित करना प्रारंभ किया, जिसका तात्पर्य था ‘सत्य के अर्थ का प्रकाश’, जो लोगों को सत्य मार्ग दिखाए और उन्हें सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करे। उन्हें प्रवास के दौरान जब कभी समय मिलता वह उसका विकास करते। उनका अगला प्रवास बिंदु मुंबई था किंतु उन्होंने मुंबई प्रवास से पूर्व ही अपनी यह रचना पूरी कर राजा कृष्णदास को सौंप दी, जिन्होंने बाद में उसे मुद्रित व प्रकाशित करवाया।

क्रमशः उत्तर प्रदेश, बंगाल तथा दिल्ली का परिभ्रमण करने के बाद स्वामी जी का अगला लक्ष्य मुंबई था। यद्यपि मुंबई में पहले से ही उनके बहुत से अनुयायी बन चुके थे और उनका वेदांत प्रचार भी काफी बढ़ गया था। किंतु अब स्वामी जी का उद्देश्य एक संगठन की स्थापना करना था, जो परस्पर संपर्क के द्वारा वेदांत समाज की प्रगति करे और भारत को संगठित करे।

यद्यपि वह इस संगठन का शिलान्यास राजकोट में ही संपन्न कर चुके थे किंतु अब उसके गठन का समय आ चुका था। स्वामी जी 1875 ई. अर्थात् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् 1932 को दूसरी बार मुंबई पधारे। वह वैदिक धर्म, वैदिक शिक्षा तथा वैदिक दर्शन के अनुसार हिंदू धर्म व समाज को ढालना चाहते थे। स्वामी जी मुंबई में ही आर्य समाज नाम से वैदिक समाज की स्थापना करना चाहते थे जो उनका एक बहुप्रतीक्षित स्वप्न था। यह उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, जो आगे चलकर हिंदू धर्म के पुनरुद्धार का सशक्त प्रयोग सिद्ध हुआ।

अपने असाधारण व्यक्तित्व से स्वामी जी ने हिंदू धर्म की नींव को हिला

दिया। उन्होंने हिंदू मस्तिष्क को पश्चिमी शिक्षा और धर्म की चुनौती का सामना करने, प्राच्य सभ्यता को जीवित रखने तथा हिंदू धर्म व संस्कृति के शुद्ध रूप को प्रतिष्ठित करने का भगीरथी प्रयास किया। जहां एक ओर स्वामी जी का मुंबई आगमन पर बहुत उत्साहपूर्वक स्वागत हुआ था, वहीं कुछ विदेशी लोगों ने उनकी हत्या का प्रयास भी किया। उन्होंने बलदेव सिंह नामक व्यक्ति को स्वामी जी का वध करने भेजा। किंतु इस षड्यंत्र का पहले ही पता चल गया और बलदेव सिंह को पकड़ लिया गया। पश्चाताप में डूबे बलदेव को अपनी गलती का एहसास हुआ। उसने स्वामी जी के चरण स्पर्श कर अपने कृत्य के लिए क्षमा मांगी। अपने स्वभाव के अनुसार स्वामी जी ने उसे क्षमा कर दिया।

1874 ई. को कुछ आर्य सज्जन एकत्र होकर स्वामी जी के पास पहुंचे और बोले, “हम आपके उपदेश से पूरा लाभ उठाने के लिए सत्संग की स्थापना करना चाहते हैं। कृपया अपने श्रीमुख से उसका नामकरण कीजिए।”

स्वामी जी की हार्दिक अभिलाषा अब कार्यरूप लेने वाली थी। उन्होंने कुछ देर ध्यान कर कहा, “इस सत्संग का शुभ नाम ‘आर्य समाज’ ही रखना उचित है।”

आर्य समाज की स्थापना हेतु स्वामी जी ने नियम व सिद्धांत प्रतिपादित किए थे। तभी से ‘आर्य सत्संग’ का नाम बदल कर ‘आर्य समाज’ रख दिया गया। किंतु अभी तक आर्य समाज की पूर्ण स्थापना नहीं हुई थी बल्कि अभी केवल उसकी रूपरेखा ही तैयार हो सकी थी।

स्वामी कमलनयन से शास्त्रार्थ

स्वामी जी मुंबई से सूरत (गुजरात) पहुंचे और उसके समीपवर्ती गांवों में वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे। उनके सरल, गंभीर, शुद्ध व तेजपूर्ण व्यवहार ने नौजवानों को बहुत प्रभावित किया। सूरत से वह भड़ौच पहुंचे और वहां नर्मदा नदी के किनारे भृगु आश्रम में अपना आसन जमाया।

उन्हीं दिनों उनके दर्शन के लिए आए एक सेठ ने एक मंदिर की ओर इशारा कर स्वामी जी को बताया कि उसने उस मंदिर के निर्माण हेतु दो लाख रुपए दान दिए हैं।

सेठ की बात सुन स्वामी जी ने उत्तर दिया, “ऐसी अविद्या से ही आज हम लोगों की दुर्दशा हो रही है। यदि इतना धन आप पाठशाला में लगाते तो सैकड़ों अशिक्षित लोगों को शिक्षा प्राप्त होती।”

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/57

स्वामी जी की बात सुनकर वह सेठ निरुत्तर हो गया।

अहमदाबाद में उनके आगमन का समाचार मिलते ही लोग उनके दर्शन करने को लालायित हो उठे। स्वामी जी वहां वल्लभ संप्रदाय के आचार्य कमलनयन स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ करना चाहते थे। किंतु जब स्वामी जी शास्त्रार्थ सभा में पहुंचे तो आचार्य कमलनयन उनका सामना ही न कर सके और वहां से उठकर चले गए। तत्पश्चात् स्वामी जी पुनः मुंबई लौट आए जहां उन्हें अपने कई कार्य पूरे करने थे।

दूसरे मुंबई प्रवास के दौरान स्वामी जी के कई स्वप्न साकार हो रहे थे। 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना हो चुकी थी। यद्यपि वह संस्कृत व गुजराती के विद्वान थे किंतु यह ग्रंथ उन्होंने हिन्दी भाषा में लिखा था। मुंबई आने के पश्चात् उनके 'संस्कार विधि' और 'आर्याभिविनय' नामक दो ग्रंथों का प्रकाशन भी जयकृष्णदास के प्रयासों से साकार हो चुका था। स्वामी जी वेदभाष्य का भी प्रारंभ कर चुके थे।

स्वामी जी के आदेशों व निर्देशानुसार 10 अप्रैल 1875 को शनिवार के दिन आर्य समाज के सदस्यगण गिरगांव मुहल्ले में डॉक्टर माणिकचंद की वाटिका में एकत्र हुए और उस दिन शाम को आर्य समाज की विधिवत् स्थापना की गई।

पूना में महादेव गोविंद रानाडे ने स्वामी जी का बड़े जोरदार तरीके से स्वागत सत्कार व अभिनंदन किया। स्वामी जी ने आर्यसमाज की पताका के नीचे लोगों को एकत्र कर कहा, "सत्य विद्या का और उससे जो पदार्थ जाने जाते हैं उनका मूल परमेश्वर है। संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है। केवल अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।"

मुंबई में प्रथम आर्य समाज की स्थापना के बाद भारत के अन्य नगरों में भी इसकी शाखाएं स्थापित की जाने लगीं। उन्होंने लोगों से कहा, "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"

आर्य समाज की स्थापना के समाचार का लोगों पर क्रांतिकारी असर हुआ। उन दिनों सामाजिक व धार्मिक विषमताओं के कारण लोग धर्म परिवर्तन कर रहे थे। किंतु आर्य समाज की स्थापना व स्वामी जी की धर्म समीक्षा ने समाज में नई क्रांति को जन्म दिया। हिंदुओं का धर्म परिवर्तन रुक गया। जिन हिंदुओं ने अन्य धर्म ग्रहण कर लिया था, उन्होंने पुनः हिंदू धर्म अपना लिया। आर्य समाज

58/बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती

की स्थापना से समाज में राष्ट्रीय एकता का विकास हुआ।

स्वामी जी और आर्यसमाज

स्वामी जी और आर्य समाज दोनों ने ही भारतीय समाज में एक नया पुनर्जागरण आंदोलन विकसित किया। उन दिनों भारत में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज जैसे कई समाज सुधार आंदोलन चल रहे थे किंतु आर्य समाज का लक्ष्य भिन्न था। स्वामी जी का दृष्टिकोण राजा राममोहन राय तथा महादेव गोविंद रानाडे जैसे सुधारकों से मूलतः भिन्न था।

उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए आवाज उठाई, किंतु स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीय एकता की अवधारणा सभी भारतवासियों द्वारा वेदों की सत्ता तथा हिंदू धर्म को स्वीकारने पर आधारित थी। यद्यपि स्वामी जी दूसरे धर्मों की निंदा नहीं करते थे किंतु उनकी दृष्टि में धर्म परिवर्तन पर जोर देने वाले धर्म निंदनीय थे और ऐसे धर्मों को वह राष्ट्रीय एकीकरण के विरुद्ध मानते थे।

इसलिए सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने न केवल बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम तथा ईसाई धर्म को झूठे धर्म कहकर उनकी निंदा की, बल्कि उनके दृष्टिकोण को आर्य चिंतन से समन्वित करने की किसी भी कोशिश का बड़ी उग्रता से विरोध किया।

क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज के लोगों में देशभक्ति का अत्यधिक अभाव है और उन्होंने अनेक बातों में ईसाइयों का अनुकरण किया है तथा दूसरों के साथ खान-पान व विवाह संबंधी नियमों को भी बदला है। वे बिना किसी भेदभाव के मिल-बैठकर खाते-पीते हैं, यहां तक कि वे यूरोपियों, मुसलमानों, जाति बहिष्कृत लोगों इत्यादि के साथ भी बैठकर खाते-पीते हैं।

उन्होंने ब्रह्म समाज का विरोध इस आधार पर किया कि ब्रह्म समाज की पवित्र पुस्तक में संतों की सूची में ईसा, मोजेज, मोहम्मद, नानक और चैतन्य तक के नाम दिए गए हैं, किंतु इसमें अतीत के ऋषियों में से एक का भी नाम शामिल नहीं है। इससे कोई सहज ही समझ सकता है कि इन लोगों की मान्यताएं वे ही हैं, जो इनकी पवित्र पुस्तक में गिनाई गई विभूतियों की शिक्षाओं से उद्भूत हैं।

स्वामी जी व आर्य समाज ने देशवासियों के पुनरुत्थान हेतु 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया ताकि लोगों में राष्ट्रभावना बलवती हो। स्वामी जी ने वेदों को ईश्वर का वाक्य माना, जिसमें किसी प्रकार की त्रुटि की संभावना नहीं थी। उनकी दृष्टि में वेद न केवल अतीत के संबंध में, वरन् भविष्य के बारे में भी

ज्ञान के मूर्त रूप थे। अतः वे मानते थे कि वेदों को स्वीकार करने से संपूर्ण सत्य स्वीकार कर लिया जाता है।

राजा राममोहन राय तथा रानाडे जैसे विद्वान वैदिक अवधारणाओं व तर्क में टकराव होने पर तर्क का पक्ष लेना श्रेयष्कर समझते थे, जबकि स्वामी जी के अनुसार वेद ही किसी समस्या का अंतिम समाधान प्रस्तुत कर सकते थे। उन्होंने अपनी विचारधारा को प्रस्तुत कर कहा, “वेदों को स्वीकार करने से संपूर्ण सत्य स्वीकार कर लिया जाता है। मैं मानता हूँ कि चारों वेद, जो ज्ञान और धर्म संबंधी सत्यों का निधान हैं, स्वयं ईश्वर के वचन हैं। उनमें केवल संहिता मंत्रों का संकलन है। वे त्रुटियों से पूर्णतः मुक्त हैं और स्वयमेव सबसे बड़ी सत्ता हैं।

दूसरे शब्दों में, उनकी सत्ता की प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य ग्रंथ की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने प्रकाश से स्वयं अपने स्वरूप तथा ब्रह्मांड की अन्य वस्तुओं, जैसे पृथ्वी आदि, को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वेद प्रकाशित हैं...”

अन्य समाज सुधारकों की गतिविधियों के विपरीत स्वामी दयानंद ने यज्ञों और अन्य वैदिक कर्मकांडों को पुनः जीवित किया। यद्यपि वह आपस्तंब सूत्रों से सहमत थे कि सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले निम्न जाति का मनुष्य भी उच्च जाति के मनुष्य के स्वर तक पहुंच सकता है और उसे इसी रूप में स्वीकार भी किया जाना चाहिए। इसी प्रकार पाप का भागी बनकर यदि उच्च वर्ग का मनुष्य नीची जाति के स्तर पर पहुंच जाता है तो उसे नीची जाति का ही मानना चाहिए।

किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्वामी जी का प्रत्येक कार्य पुरानी प्रक्रिया पर आधारित और प्रतिक्रियावादी था। उनके इन विचारों का सकारात्मक महत्व था। उन्होंने बहुदेववाद को अस्वीकार किया, निराकार ईश्वर की आराधना का समर्थन किया, परंपरागत ब्राह्मण पुरोहितों की अंधकट्टरता की आलोचना की, मूर्ति-पूजा आदि का विरोध किया, लेकिन इन सभी कार्यों का उद्देश्य हिंदू धर्म को सुदृढ़ करना था; ताकि हिंदुओं में एकता स्थापित हो और उनका पुनरुत्थान हो सके तथा वह हिंदू राष्ट्रवाद के रूप में समूचे भारत में स्थापित हो सके।

आर्य समाज के मुख्य सिद्धांत

- ◆ सत्य ज्ञान का प्रारंभिक कारण ईश्वर है।
- ◆ ईश्वर ही सत्य है, सर्वज्ञान है, सर्व सौंदर्य है, सर्व शक्तिमान् है, अनंत

60/बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती

है, अशरीरी है, न्यायकारी है, दयालु है, अजन्मा है, अपरिवर्तनशील है, अनादि है, अतुलनीय है, सबका पालनकर्ता एवं सबका स्वामी है, सर्वव्याप्त है, सर्वज्ञ है, अजर व अमर है, भयरहित है, पवित्र है एवं सृष्टि का कारण है। केवल उसी की पूजा होनी चाहिए।

- ◆ वेद ही सच्चे ज्ञानग्रंथ हैं तथा प्रत्येक आर्य का सबसे पुनीत कर्तव्य है उन्हें पढ़ना या सुनना एवं उनकी शिक्षा दूसरों का देना।
 - ◆ प्रत्येक प्राणी को सत्य के ग्रहण करने एवं असत्य के त्याग के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए।
 - ◆ प्रत्येक काम नेकीपूर्ण होना चाहिए तथा उचित एवं अनुचित के चिंतन के बाद ही उसे करना चाहिए।
 - ◆ आर्य समाज का प्राथमिक कर्तव्य है मनुष्य मात्र की शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति द्वारा विश्वकल्याण करना।
 - ◆ सभी के प्रति न्याय, प्रेम एवं योग्यता के अनुसार व्यवहार करना चाहिए।
 - ◆ अंधकार को दूर कर ज्ञान ज्योति को फैलाना चाहिए।
 - ◆ किसी को भी केवल अपनी ही भलाई से संतुष्ट नहीं होना चाहिए अपितु अपनी उन्नति का संबंध दूसरों की उन्नति से जोड़ना चाहिए।
 - ◆ साधारण समाजोन्नति या समाज कल्याण के संबंध में मनुष्य को अपना मतांतर त्यागना तथा अपनी व्यक्तिगत बातों को भी छोड़ देना चाहिए।
- किंतु व्यक्तिगत विश्वासों में मनुष्य को स्वतंत्रता बरतनी चाहिए।

ऊपर के दस सिद्धांतों में से प्रथम तीन जो ईश्वर के अस्तित्व, स्वभाव तथा वैदिक साहित्य के सिद्धांत को दर्शाते हैं, धार्मिक सिद्धांत हैं। अंतिम सात नैतिक सिद्धांत हैं। आर्य समाज का धर्मविज्ञान वेद के ऊपर अवलंबित है।

स्वामी जी ने उपदेश है :

- ◆ वेद ईश्वर द्वारा व्यक्त किए गए हैं जैसा कि प्रकृति के उनके संबंध से प्रमाणित है।
- ◆ वेद ही केवल ईश्वर द्वारा व्यक्त किए गए हैं क्योंकि दूसरे ग्रंथ प्रकृति के साथ यह संबंध नहीं दर्शाते।
- ◆ वे विज्ञान एवं मनुष्य के सभी धर्मों के मूल स्रोत हैं.. अतः आर्य समाज के कर्त्तव्यों संबंधी दो सिद्धांत सामने आए--भारत को (भूले हुए) वैदिक पथ पर पुनः चलाना।
- ◆ वैदिक शिक्षाओं को संपूर्ण विश्व में प्रसारित करना।

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/61

वैदिक विज्ञान

आर्य समाज की स्थापना का उद्देश्य जनता में देशभक्ति और पुनरुत्थान को जगाना था। 'वेदों की ओर लौटो' का आह्वान कर लोगों को वैदिक धर्म व सिद्धांतों को अपनाने पर बल दिया गया। वह वेदों को ईश्वर का वाक्य मानते थे अतः उनमें किसी भी प्रकार की त्रुटि की संभावना नहीं मानते थे। वेद ही किसी समस्या का अंतिम समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं। उन्होंने स्वयं कहा, "मैं मानता हूँ कि चारों वेद, जो ज्ञान और धर्म संबंधी सत्यों के निधान हैं, स्वयं ईश्वर के वचन हैं। उनमें केवल संहिता मंत्रों का संकलन है।"

उनके वैदिक सिद्धांत को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। यह ईश्वर का ज्ञान है, इसलिए पवित्र व पूर्ण है। ईश्वर का सिद्धांत दो प्रकार से व्यक्त किया गया है—

- ◆ चार वेदों के रूप में, जो चार ऋषियों (अग्नि, वायु, सूर्य एवं अंगिरा) को सृष्टि के आरंभ में अवगत हुए।
- ◆ प्रकृति या विश्व के रूप में, जो वेदविहित सिद्धांतों के अनुसार उत्पन्न हुआ।

वैदिक साहित्य एवं प्रकृति ग्रंथ से यहां साम्य प्रकट होता है। उन्होंने कहा कि मैं वेदों को स्वतः प्रमाणित सत्य मानता हूँ। ये संशयरहित हैं एवं दूसरे किसी अधिकारी ग्रंथ पर निर्भर नहीं रहते। ये प्रकृति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो ईश्वर का साम्राज्य है।

ग्वामी दयानंद ने अपने वैदिक सिद्धांतों को व्यावहारिकता देने, अपने धर्म को फैलाने तथा भारत व विश्व को जाग्रत करने के लिए ही आर्य समाज की स्थापना की थी, जिसका वास्तविक अर्थ था भद्रजनों का समाज या भद्र सभा। वास्तव में स्वामी जी ने देशभक्ति की भावना जगाने के लिए यह नाम चुना था। जो धार्मिक से भी अधिक सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व रखता है।

इस प्रकार यह अन्य धार्मिक एवं सुधारवादी संस्थाओं से भिन्नता रखता है।

उन्होंने कहा कि शास्त्र वह है जो सत्यविद्या के प्रतिपादन से पूर्ण है तथा जिससे मनुष्य को सत्य की शिक्षा मिलती है। सत्यविद्या की निधि एकमात्र वेद हैं। वास्तव में उन्होंने मार्टिन लूथर किंग के समान आध्यात्मिक जागृति पैदा की और लोक जीवन का वैदिकीकरण किया।

शुद्धि आंदोलन

स्वामी जी ने हिंदू धर्म को सशक्त करने के लिए शुद्धि आंदोलन चलाया, जो आर्य समाज के कार्य-कलापों का ही अंग था। उन दिनों कई हिंदू लोगों ने हिंदू धर्म त्याग कर ईसाई, मुस्लिम आदि धर्म अपना लिए थे। यह धर्म परिवर्तन वास्तव में हिंदू धर्म में फैली जाति व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था का ही परिणाम था। इसके विरोध में ही स्वामी जी ने शुद्धि आंदोलन की नींव रखी।

इसके अनुसार धर्म से बहिष्कृत लोगों, अन्य धर्म, मत या संप्रदाय मानने वालों तथा ईसाई या मुसलमान बनाए गए हिंदुओं को पुनः हिंदू धर्म में शामिल होने की अनुमति दी गई। उनका कहना था कि किसी भी अहिंदू को हिंदू बनाया जा सकता है।

वास्तव में यह आंदोलन एक धर्म निरपेक्ष व चुनौती पूर्ण कदम था। स्वामी जी के इस प्रयास ने देश के धार्मिक व सामाजिक क्षेत्रों में एक नवीन क्रांति पैदा की। इस आंदोलन के फलस्वरूप हिंदुओं ने दूसरे धर्म अपनाना छोड़ दिया। जो हिंदू दूसरा धर्म या पंथ अपना चुके थे उन्हें दीक्षा देकर पुनः हिंदू धर्म में शामिल कर लिया गया।

आर्य समाज ने भारत में राष्ट्रवाद के विकास में बड़ा योगदान दिया। उन्होंने शिक्षा दी कि जातिभेद तथा सामाजिक भिन्नता के बावजूद समस्त भारत की जनता एक ही है। उन्होंने स्पष्ट किया कि कोई भी अहिंदू बना व्यक्ति हिंदू धर्म में दीक्षा ले सकता है।

शुद्धि आंदोलन ने भारतीयों की अखंडता तथा एकता को बल प्रदान कर सशक्त बनाया, किंतु इसके राजनीतिक निहितार्थ भी थे कि भारत की जनता एकजुट होकर विदेशी शासन को उखाड़ फेंके। स्वामी जी ने हिंदू मस्तिष्क को पश्चिमी शिक्षा और धर्म की चुनौती का सामना करना, प्राचीन सभ्यता को जीवित रखने तथा हिंदू धर्म व संस्कृति के शुद्ध रूप को प्रतिष्ठित करने का भगीरथी प्रयास किया। उन्होंने शुद्धि संस्कार द्वारा वैदिक धर्म के द्वारा सभी हिंदुओं के लिए खोल दिए।

स्वामी जी ने जागृति का आह्वान किया कि धर्म का अनुष्ठान करें, सद्

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/63

शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ाएं, सत्पुरुषों का संग करें और और ओउम् परमात्मा के नाम का विचार पूर्वक जाप करें। आत्मा को परमात्मा की आज्ञानुसार समर्पित करें।

पूना में जुलूस और अपमान

मुंबई में आर्य समाज की स्थापना के पश्चात् स्वामी पूना चले गए। पूना में उनके भक्तों ने बड़े जोशीले तरीके से उनका स्वागत किया। उनके स्वागत में भव्य जुलूस का आयोजन किया गया। जुलूस में स्वामी जी को हाथी पर बैठाकर उनकी शोभायात्रा निकाली गई। हाथी के आगे-आगे भक्तगण गाजे-बाजे के साथ कीर्तन करते चल रहे थे। सर्वत्र 'स्वामी जी की जय' के जयनाद गूंज रहे थे।

स्वामी जी जिन मत-मतांतरों को झूठा समझते थे उनका निःसंकोच खंडन किया करते थे। इसी कारण उनके कई विरोधी भी बन गए थे। स्वामी जी के जुलूस को देख उनके विरोधियों ने ईर्ष्याविश उनका अपमान करने की ठान ली। उन्होंने एक आदमी को स्वामी दयानंद बनाया, उसके मुंह पर कालिख मलकर गधे पर बैठाकर उसका जुलूस निकाला। जुलूस के लोग उसे गालियां भी दे रहे थे और उस पर कूड़ा-करकट भी फेंक रहे थे।

स्वामी जी उनकी इस हरकत को शांतिपूर्वक देख रहे थे किंतु उनके मन में उन लोगों के प्रति जरा भी क्रोध नहीं था। प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने कहा, "ये सभी लोग वेदों के ज्ञान से शून्य हैं इसलिए ऐसा कर रहे हैं। इन पर क्रोध नहीं दया करनी चाहिए।"

दिल्ली में संयुक्त सभा

मुंबई में दूसरे परिभ्रमण के पश्चात् स्वामी जी दिसंबर माह के अंत में दिल्ली आए। यहां आने का मुख्य उद्देश्य था कि देशभर के राजाओं, रजवाड़ों की एक संयुक्त सभा आयोजित कर उन्हें एक धर्म की दीक्षा दी जाए। किंतु स्वामी जी का यह प्रयास सफल न हो सका। 1878 में दिल्ली में दिल्ली दरबार का आयोजन हुआ। इसका लाभ उठाकर उन्होंने अपने स्थान पर भारत में प्रचलित विभिन्न मतों, जातियों तथा विभागों के शीर्ष नेताओं की एक सभा का आयोजन करवाया।

इस सभा में पंजाब के प्रसिद्ध सुधारक कन्हैयालाल जी अलखधारी, श्रीयुत नवीनचंद्र राय, श्रीयुत हरीशचंद्र चिंतामणि, सर सैयद अहमद, श्री इंद्रमन जी तथा श्री केशवचंद्र सेन शामिल हुए। ये सभी अपने-अपने क्षेत्र के गणमान्य शीर्ष नेता थे। स्वामी जी ने उन सभी के साथ भारत के उद्धार संबंधी विभिन्न विषयों पर

चर्चा की। सभा में स्वामी जी ने यह प्रस्ताव रखा कि हम भारतवासी सब परस्पर एकमत होकर एक ही रीति से देश का सुधार करें तो आशा है कि भारत देश सुधर जाएगा। पृथक-पृथक सभा की स्थापना के स्थान पर यदि हम मिलकर एक ही धर्म का प्रचार करें तो बहुत ही अच्छा हो।

वह एक समान मानव आचार संहिता तैयार करना चाहते थे, किंतु दुर्भाग्य से भारत में प्रचलित विभिन्न सिद्धांतों के मध्य व्याप्त अंतर इसमें रुकावट बन गए और उन्हें एकता के एक सूत्र में बांधने का स्वामी जी का प्रयास सफल न हो सका।

सामाजिक क्रांति और पुनरुत्थान

स्वामी जी ने एक ओर धार्मिक क्रांति का बिगुल बजाया तो दूसरी ओर सामाजिक क्रांति का आह्वान किया। सामाजिक क्रांति का अर्थ वास्तव में सामाजिक कुरीतियों को दूर करना था। ये सामाजिक विषमताएं समाज के वर्गों में वैमनस्य पैदा कर रही थीं, जो भारत में सामाजिक एकता के लिए खतरा था। क्योंकि स्वामी जी समाज में भेदभाव मिटाकर उसे संगठित करना चाहते थे। उन्होंने प्रत्येक वर्ग को अपना कर्तव्य पूरा करने को कहा। इसलिए उन्होंने अंतर्जातीय विवाह का विरोध किया और शिक्षा दी की लोगों को अपनी जाति में ही विवाह करना चाहिए।

शिक्षा के प्रसार द्वारा नीची जाति के हिंदुओं और स्त्रियों के स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया। इसके लिए प्रबल आंदोलन का सूत्रपात किया। बाल विवाह, सती प्रथा तथा बेमेल विवाह आदि का भी विरोध किया, ताकि स्त्रियों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जा सके। इससे उनके प्रचंड समाज सुधारक व्यक्तित्व का पता चलता है, जो हिंदू धर्म को सुदृढ़ करने का एक प्रयास था।

स्वामी जी ने स्वदेश में बढ़ते वैमनस्य को हानिकारक बताया, जिनके कारण तीसरा विदेशी आकर प्रचंड बन बैठता है। राज्य के संगठन के लिए उन्होंने राज्याध्यक्ष तथा शासन की विभिन्न परिषदों एवं समितियों के लिए योग्यताओं को भी स्पष्ट किया। उन्होंने न्यास की व्यवस्था ऋषि प्रणीत ग्रंथों के आधार पर किए जाने का पक्ष लिया।

पंजाब में प्रचार

1877 में स्वामी जी पंजाब (अविभाजित पंजाब) की तत्कालीन राजधानी लाहौर गए। पंजाब में गुरु नानक तथा सिख गुरुओं के नाम प्रकाशमान थे। उन्होंने पंजाब में एकेश्वरवाद का प्रचार किया था, क्योंकि लाहौर में इस्लाम का भी प्रचार काफी जोरों पर था। अब तक कई मुस्लिम दरवेश भी वहां एकेश्वरवाद

की बात कह चुके थे। इसलिए स्वामी जी के विचारों को वहां अपना प्रभाव जमाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। आर्य समाज के सिद्धांत भी ऐकेश्वरवाद का ही समर्थन करते थे। वहां हिंदू धर्म का भी प्रभाव अधिक था और अवतारवाद का प्रभाव कम था। इन सभी बातों ने पंजाब में आर्य समाज की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

स्वामी जी ने आर्य समाज का नूतन संस्कार किया और पंजाब में उसे एक ठोस आधार प्रदान किया। यहां कार्तिक सुदी 1, संवत् 1934 (1877 ई।) को स्वामी जी ने इन नियमों को अंतिम स्वरूप दिया और तत्पश्चात् घोषणा की, “वैदिक धर्म प्रचार कार्य बहुत बड़ा है। हम जानते हैं कि वह हमारे इस जीवन में पूर्ण न हो सकेगा।”

स्वामी जी ने पहले लाहौर में वेदांत व आर्य समाज का प्रचार किया और फिर अमृतसर पहुंचे। तत्पश्चात् गुरदासपुर में जाकर वेदांत का प्रचार करने लगे। उन्होंने पंजाब में कई स्थानों पर आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी जी के उपदेशों व विचारों को पंजाब में व्यापक समर्थन मिला और वहां सबसे अधिक आर्य समाज स्थापित किए गए। आर्य समाज की स्थापना के अलावा वहां कई दयानंद एंग्लो-वैदिक विद्यालय (डी.ए.वी.स्कूल), विधवा आश्रमों व अनाथालयों की स्थापना भी की गई।

स्वामी जी की व्याख्यान सभा के दौरान कई उच्च कर्मचारी भी उनके साथ रहते थे। उनके साथ वेदभाष्य सीखने के लिए तीन पंडित रहा करते थे। स्वामी जी अंग्रेजी भाषा नहीं जानते थे, अतः अंग्रेजी में पत्र व्यवहार के लिए एक अंग्रेजी भाषाविद् भी उनके साथ रहता था। अन्य कार्यों के लिए भी चार-पांच सेवक सदा उनके साथ रहते थे। बंगाल में देवेन्द्रनाथ के वचनों ने उन पर गहरा प्रभाव छोड़ा था। तब से उन्होंने अपना परिवेश बदल डाला था। अब व्याख्यान देते समय वह सिर पर एक रेशमी पीतांबर पगड़ी, एक पीली धोती तथा उसके ऊपर एक ऊनी चोंगा पहनते थे।

पंजाब में आर्य समाज की स्थापना सरल न थी। कुछ विरोधी स्वर भी उठते रहते थे। अन्य अवसरों की तरह स्वामी जी ने इन विरोधों का भी डटकर सामना किया। एक बार स्वामी जी एक सभा में वैदिक उपदेश दे रहे थे। कुछ दुष्ट लोगों ने षड्यंत्रवश अपने कुछ लोगों को सभा स्थल के बाहर बैठा दिया तो कुछ अंदर ही बैठ गए। स्वामी जी की सभा के दौरान अचानक अंदर बैठे उपद्रवी लोग शोर मचाने लगे तो बाहर बैठे व्यक्ति उन पर कंकड़-पत्थर फेंकने लगे। किंतु स्वामी

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/67

जी और उनके अनुयायी डटकर खड़े रहे।

कुछ देर बाद शोरगुल शांत होने पर स्वामी जी बोले, “..जो लोग आज हम पर पत्थर फेंक रहे हैं, वे अवश्य ही अपनी भूल पर पछताएंगे। क्योंकि हम उनके विरोधी नहीं हैं। हम तो उन्हें वेदों का अमृत पिलाने आए हैं। एक दिन आएगा जब लोग वेदों के ज्ञान के महत्व को समझेंगे और वेदों के ज्ञान का प्रचार करने वालों पर पत्थर नहीं, फूलों की वर्षा करेंगे...”

अंततः स्वामी जी का कथन सत्य साबित हुआ। वह जहां कहीं भी गए उनका हर्ष सहित स्वागत किया गया। उन पर पुष्पवर्षा की गई।

ब्रह्मचर्य बल और शांति का प्रमाण

स्वामी जी बाल ब्रह्मचारी थे अतः ब्रह्मचर्य की शक्ति से उनमें अपार आत्म नियंत्रण की कला विकसित हो गई थी। साथ ही योग व ध्यान से वह अति शक्तिशाली प्रतीत होते थे।

उन दिनों स्वामी जी लुधियाना में वेद प्रचार कर रहे थे। वहां एक सरदार विक्रमजीत सिंह ने स्वामी जी का उपहास करते हुए कहा, “स्वामी जी मैंने सुना है, ब्रह्मचारियों में बड़ा बल होता है।”

स्वामी जी ने कहा, “हां, शास्त्रों में कुछ ऐसा ही लिखा हुआ है।”

विक्रमजीत सिंह ने अप्रत्यक्ष रूप से स्वामी जी पर कटाक्ष कर कहा, “स्वामी जी, आप भी तो ब्रह्मचारी हैं।

वास्तव में वह स्वामी जी के बल को चुनौती दे रहा था कि स्वामी ब्रह्मचर्य का साक्षात् उदाहरण प्रस्तुत करें। किंतु उस दिन स्वामी जी ने कुछ नहीं किया। वह केवल मुस्कुराकर चुप रह गए।

एक अन्य दिन विक्रमजीत अपनी बग्गी पर बैठकर कहीं जा रहा था। किंतु अचानक उसकी बग्गी रुक गई। भरसक प्रयत्न के बाद भी घोड़े बग्गी को खींच नहीं पा रहे थे। उसने अचरज से पीछे की ओर देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। स्वामी जी बग्गी का एक पहिया पकड़े हुए खड़े थे।

स्वामी जी का यह कार्य देखकर विक्रमजीत अत्यंत लज्जित हुआ। उसे अपनी कही बात का पश्चाताप हुआ। उसने तुरंत स्वामी जी के चरण पकड़कर उनसे क्षमा मांगी।

स्वामी जी का शांत स्वभाव सभी को ज्ञात था। वह कभी क्रोधित नहीं होते थे। एक बार वजीराबाद परिभ्रमण के दौरान उन पर पत्थर मारे गए। पत्थर का

एक टुकड़ा लगने से उनके सिर से रक्त बहने लगा। किंतु स्वामी जी तब भी क्रोधित नहीं हुए और मुस्कुराते हुए कहा, “ये सभी लोग कितने भटके हुए हैं। जो शांति और ज्ञान की शिक्षा देता है, उसे पत्थर मारते हैं। ईश्वर से प्रार्थना है, वह इन्हें सदबुद्धि दे, इन्हें अच्छे मार्ग पर चलाए।”

ऐसी ही एक घटना उनके कश्मीर परिभ्रमण के दौरान भी घटी। कश्मीर की सभा में जब कुछ लोग शोर मचाने लगे तो स्वामी जी उन्हें चुनौती देते हुए बोले, “जो लोग यह शोर मचा रहे हैं, वे मेरे सामने आएँ और मेरे हाथ की कलाई टेढ़ी करके दिखाएं।”

यद्यपि उस सभा में कई कश्मीरी पहलवान भी मौजूद थे किंतु कोई भी उनकी चुनौती को स्वीकार करने का साहस न कर सका।

पादरियों से शास्त्रार्थ

पंजाब में आर्य समाज की स्थापना से पूर्व ईसाई धर्म की गहरी छाप पड़ चुकी थी। वहाँ के कई सिख व हिंदू लोग धर्म परिवर्तन कर ईसाई बन चुके थे। स्वामी जी ऐसे कृत्यों के विरुद्ध थे और इन्हें रोकना चाहते थे। सत्य के पक्षधर स्वामी जी सत्य कहने से कभी पीछे नहीं हटते थे। वह न केवल हिंदू धर्म के आडंबरों का खंडन करते थे बल्कि अन्य धर्मों की बुराइयों का भी खंडन करते थे।

अमृतसर का एक सरदार खड्गसिंह धर्म परिवर्तन कर ईसाई बन गया था। वह पिछले चौदह-पंद्रह वर्षों से पादरियों के साथ रहकर ईसाई धर्म की शिक्षा प्राप्त कर रहा था। स्वामी जी की धर्म-परिवर्तन विरोधी कृत्यों के कारण वहाँ के पादरी बौखला गए। उन्होंने खड्गसिंह को स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने भेजा ताकि वह उनसे तर्क कर उन्हें पराजित कर सके।

इसका बिलकुल विपरीत प्रभाव पड़ा। स्वामी जी के विचारों ने उसकी धारणा ही बदल दी। वह उनके विचारों को सुनकर अचंभित हो गया। उसने तुरंत स्वामी जी के चरण पकड़ लिए और आर्य समाज की दीक्षा लेकर आर्य समाजी बन गया।

इस घटना से क्रोधित होकर पादरी समूह उन हिंदुओं से बदला लेने लगा जो मिशन स्कूल में पढ़ते थे। ऐसे ही एक अध्यापक ज्ञानचंद्र थे जो पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। पादरियों ने उन पर दबाव डाला कि या तो वह अपने विचारों को त्याग दें या फिर ईसाई बनकर अध्यापक बने रहें। ऐसी विकट स्थिति में

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/69

ज्ञानचंद्र ने स्वामी जी से सलाह ली। उनके परामर्श पर ज्ञानचंद्र ने अपने विचारों को नहीं त्यागा, बल्कि नौकरी से ही त्यागपत्र दे दिया। ऐसे अनेक प्रयासों से स्वामी जी पंजाब व अन्य स्थानों पर आर्य समाज की जड़ें जमाते चले गए। उनके प्रभाव से ही वहां ईसाई धर्म का प्रभाव भी क्षीण होता चला गया।

स्वामी जी का हृदय किसी सागर की भांति विशाल था। वह सभी को स्नेहपूर्वक गले से लगाते थे। सभी उनके मित्र तुल्य थे, कोई शत्रु न था। उन्होंने महिला शिक्षा का प्रबल समर्थन किया और कहा कि महिलाओं व शूद्रों तथा मानवमात्र को वेद पढ़ने, गायत्री मंत्र बोलने एवं यज्ञ करने का अधिकार है। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था को मानव एवं समाज के लिए आवश्यक बताते हुए जातिवाद का प्रबल विरोध किया। इसलिए उन्होंने छुआछूत का भी डटकर विरोध किया।

एक बार उनकी एक सभा में काफी श्रद्धालु एकत्रित थे। तभी एक मजहबी सिख भी उपदेश सुनने वहां आ गया और एक ओर बैठकर उनके वचनों को सुनने लगा। क्योंकि मजहबी सिख अपने हाथों से पशुओं को मारते हैं, इसलिए वे लोगों की घृणा के पात्र बनते हैं। इसलिए वहां बैठे लोगों ने उस मजहबी सिख को वहां से डांटकर उठा दिया। वह दूसरी जगह बैठा तो वहां बैठे लोगों ने भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया।

स्वामी जी उसके इस अपमान को काफी देर से देख रहे थे। लेकिन यह आर्य समाज के सिद्धांतों के विरुद्ध था। अंततः उन्हें हस्तक्षेप करना पड़ा, “अरे भई! उस बेचारे को बैठने क्यों नहीं देते? जहां वह पहले बैठा था वहां से उसे लोगों ने उठा दिया और अब जब वह दूसरी जगह बैठ रहा है तो लोग उसे वहां भी बैठने नहीं दे रहे हैं। मुनष्य चाहे कोई भी हो उससे घृणा नहीं करनी चाहिए क्योंकि सभी मनष्यों के भीतर ईश्वर का वास होता है। आज वह बुरा काम करने के कारण घृणा का पात्र हो सकता है। किंतु हो सकता है कल वही मनुष्य अच्छा काम करने लगे। मनुष्य ही बुरे और अच्छे कामों का कर्ता होता है। अतः जो लोग बुरे काम करते हैं। उन्हें प्रेम और बंधुता से ही अच्छे मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए।”

स्त्रियों के समान अधिकार के पक्षधर

उस काल में न केवल जाति प्रथा, अंधविश्वास व छुआछूत जैसी सामाजिक कुरीतियां विद्यमान थीं, बल्कि मानवीय विषमताओं का भी जोर था। विशेषकर

स्त्रियों की दशा अत्यंत शोचनीय थी। उन्हें समाज में ऊंचा स्थान प्राप्त नहीं था और उन्हें पुरुषों की अपेक्षा विकास के कम अवसर दिए जाते थे। बाल विवाह, सती प्रथा, बेमेल विवाह, भ्रूण हत्या, विधवा विवाह विरोध, स्त्री शिक्षा का अभाव इत्यादि कुरीतियों से स्त्रियों का शोषण होता था।

किंतु स्वामी जी ने वेदांत प्रचार के साथ-साथ इन कुरीतियों का भी डटकर विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि वेद सभी सत्य विधाओं की पुस्तक है इसलिए स्त्रियों को भी शिक्षा प्राप्ति और वेद पाठन का अधिकार है। ऐसे में उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए व्यापक आंदोलन चलाया। बाल विवाह, सती प्रथा व बेमेल विवाह का निषेध किया और विधवा विवाह का समर्थन किया।

रुड़की परिभ्रमण के दौरान एक दिन कर्णवास के ठाकुर गोपालसिंह की वृद्ध माता स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुई। वह सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप ही जीवन यापन करती थी। किंतु उनका मन कभी शांत नहीं रहता था। अतः उन्होंने स्वामी जी से निवेदन किया, “स्वामी जी! मुझे कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे मेरे मन को शांति मिले।”

स्वामी जी ने उन्हें गायत्री मंत्र प्रदान कर उसका जाप करने की सलाह दी। उन्होंने गायत्री मंत्र का जाप किया और शांति का अनुभव किया। स्वामी जी का यह कदम स्त्रियों की दशा सुधारने की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम था। रुड़की में भी अनेक लोगों ने स्वामी जी की शिक्षाओं से लाभ उठाया और सामाजिक समानताओं हेतु प्रेरणा ग्रहण की।

दूसरे कुंभ में आनंदमन और नागा साधु बने शिष्य

1935 विक्रमी में हरिद्वार में पुनः कुंभ का मेला लगा। स्वामी जी सदैव ऐसे अवसर का लाभ उठाते रहे थे, जब उनके वेदांत प्रचार सामूहिक रूप से कई लोगों तक पहुंचे। इसलिए वह दूसरी बार हरिद्वार में कुंभ मेले में पधारे। प्रथम प्रवास की भांति इस बार भी उन्होंने आर्य समाज तथा वेदों की शिक्षाओं का प्रचार किया।

एक दिन दोपहर के समय एक सन्यासी स्वामी जी के पास आए। उनका नाम आनन्दमन था। उनके साथ उनके कई शिष्य भी थे। आनंदमन ईश्वर और जीव को एक समान मानते थे। उनकी दृष्टि में दोनों में कोई भेद न था। उन्होंने अपने विचार स्वामी जी के समक्ष रखे, जो स्वामी जी के विचारों के एकदम विपरीत थे। स्वामी जी ने कहा कि ईश्वर व जीव दोनों पृथक-पृथक हैं। ईश्वर

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/71

सूर्य है तो जीव एक जुगनू के समान है। जुगनू सूर्य की बराबरी कैसे कर सकता है?... ईश्वर एक समुद्र है और जीव एक छोटी सी नदी के समान है... ईश्वर महान है, उसमें महान शक्ति है... वह महान से भी महान कार्य कर सकता है पर जीव ईश्वर के मुकाबले बहुत छोटा है। उसमें सीमित शक्ति होती है। वह छोटे कार्य तो कर सकता है, किंतु महान कार्य नहीं कर सकता।”

स्वामी जी के इस तर्कपूर्ण विचारों ने आनंदमय को गहरे तक प्रभावित किया। उन्होंने उसी क्षण अपने विचार त्यागकर स्वामी जी के विचारों को स्वीकार कर लिया और उनके शिष्य बन गए। वह तभी से स्वामी जी के समान विचारों का ही प्रचार करने लगे कि ईश्वर व जीव दोनों पृथक-पृथक हैं।

हरिद्वार प्रवास के दौरान ही एक अन्य रोचक घटना घटी। एक दिन दो नागा साधु स्वामी जी के पास पहुंचे। वहां पहुंचते ही वे स्वामी जी पर गालियों की बौछार करने लगे। स्वामी जी शांतिपूर्वक उनके अपशब्दों को सुनते रहे।

तत्पश्चात् उन्हें प्रेमपूर्वक बैठाया और सम्मानपूर्वक अपने विचारों को प्रकट किया। स्वामी जी के विचारों का उन पर जादू का सा प्रभाव पड़ा। दूसरे दिन जब वे पुनः पधारे तो उनका हृदय परिवर्तन हो चुका था। अब वे नागा साधु न होकर पूरे वस्त्र पहने थे। उस दिन उन दोनों ने स्वामी जी से दीक्षा ली और उनके शिष्य बन गए। स्वामी जी ने कुंभ में अनेक लोगों को वेदामृत का पान कराया और वेदमार्ग पर चलने की प्रेरणा दी।

कठोर सत्यवादी का पादरी से तर्क

स्वामी जी एक साहसी व निर्भीक पुरुष थे। वह सत्यवादी थे और कठोर से कठोर सत्य को भी स्वीकारने में हिचकिचाते नहीं थे। दूसरे वह सत्य कहने से भी पीछे नहीं हटते थे। उनका मानना था कि सत्य को केवल सत्य के लिए ही प्रकट किया जा सकता है। वह निर्भीक होकर अपनी बात कहते थे। सत्य कहने में वह मृत्यु का भय भी नहीं खाते थे।

एक बार स्वामी जी बरेली में उपदेश देने पहुंचे। वहां वह एक सरकारी खंजाची के घर ठहरे। उनका उपदेश सुनने के लिए आम लोगों के अलावा बड़े-बड़े अधिकारी और सरकारी कर्मचारी भी आते थे।

एक दिन उन्होंने उपदेश देते हुए कहा, “मरियम के पेट से जब महात्मा ईसा पैदा हुए थे, तो यह कहना गलत है कि मरियम कुंवारी थीं।”

उस दिन सुनने वालों में बरेली का कमिश्नर भी बैठा था। क्योंकि वह ईसाई

था इसलिए उसे स्वामी जी की यह बात अप्रिय लगी। अतः उसने सरकारी खंजाची से कहा, “स्वामी जी समझ-बूझ कर बात नहीं बोलते। इससे उनका अहित हो सकता है।”

खंजाची ने हिचकिचाते हुए स्वामी जी को यह बात समझाने की कोशिश की। किंतु स्वामी जी सत्य पर अडिग रहने वाले व्यक्ति थे। अतः वह अपनी बात से हटने को तैयार नहीं थे। किंतु वह खंजाची के कहने का तात्पर्य जान चुके थे। दूसरे दिन भी वह कमिश्नर उपदेश सुनने पहुंचा। स्वामी जी के लिए अपनी बात को कहने का यह सुअवसर भी था। अतः स्वामी जी ने कमिश्नर को ही अपना लक्ष्य बनाकर कहा, “मेरी आत्मा किसी के मारने से नहीं मर सकती। वह अजर है, अमर है और शाश्वत है। फिर मैं सत्य को प्रकट करने से क्यों डरूं? .. सत्य यही है कि महात्मा ईसा की मां कुंवारी नहीं थी। यदि वे कुंवारी होती तो महात्मा ईसा उनके पेट से कैसे जन्म लेते?... ”

स्वामी जी के विचार सुनकर कमिश्नर समझ गया कि स्वामी दयानंद ऐसे संन्यासी नहीं हैं जिसे भय दिखाकर सत्य मार्ग से विचलित किया जा सके। अंततः वह चुपचाप वहां से चला गया।

कुछ ऐसा ही उनके अजमेर प्रवास के दौरान हुआ। वहां किसी विषय पर स्वामी जी का राबर्ट्स नामक जब पादरी से वाद-विवाद हो गया। स्वामी जी ने ईसाइयों के पवित्र माने जाने वाले ग्रंथ बाइबिल की काफी त्रुटियां निकालीं और उनके आधार पर ईसाई मत का खंडन भी किया। स्वामी जी के तर्क सुनकर वह क्रोधित हो उठा। वह आवेश में आकर जोर-जोर से कहने लगा, “स्वामी जी, यह राज्य अंग्रेजों का है और अंग्रेज ईसाई मत को मानने वाले हैं। यदि तुम इसी तरह ईसाई मत का खंडन करोगे तो कैद कर लिए जाओगे।”

स्वामी जी पर उसकी इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह निर्भीकता पूर्वक बोले, “जब तुम ईसाइयों ने महात्मा ईसा को ही शूल (क्रूस) पर चढ़ा दिया था, तो मुझे गिरफ्तार कराने में क्या लगेगा। पर तुम्हें यह जानना चाहिए कि मैं संन्यासी हूं। गिरफ्तारी से तो क्या, मैं मृत्यु से भी नहीं डरता।”

स्वामी जी के इन निर्भीक किंतु सत्य वचनों को सुनकर वह स्तब्ध रह गया। उसके बाद उससे कुछ कहते नहीं बना।

काशी यात्रा में

स्वामी जी ऋषियों के ऋषि थे। वह न केवल सत्यवादी थे, बल्कि

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/73

परोपकारी भी थे। दान में वह शिव के समान थे जो याचक को कभी खाली हाथ नहीं भेजते थे। काशी की अंतिम यात्रा के दौरान स्वामी जी सुबह सैर कर रहे थे। नगर के बाहर घूमते-घूमते उनकी निगाह एक बैलगाड़ी पर पड़ी, जिसके दोनों पहिए कीचड़ में फंसे हुए थे। गाड़ी में जुते बैल उसे खींचने का भरसक प्रयास कर रहे थे किंतु उसके पहिए निकल नहीं पा रहे थे। उस पर बैलगाड़ी का कोचवान उन पर रह-रहकर चाबुक बरसा रहा था।

यह दारुण दृश्य देख स्वामी जी का मन करुणा से भर गया। वह स्वयं बैलगाड़ी के पास पहुंचे। उन्होंने दोनों बैलों को गाड़ी से खोलकर अलग किया और स्वयं ही गाड़ी को कीचड़ से निकाल कर काफी दूर तक घसीटते हुए ले गए। स्वामी जी की सूझबूझ व अपार बल देख गाड़ीवान स्तब्ध रह गया। वह उसी क्षण उनके चरणों में गिर कर क्षमा मांगने लगा।

राजस्थान व उदयपुर भ्रमण

राजस्थान के नरेशों की हार्दिक इच्छा थी कि स्वामी जी उनकी रियासतों में अपने पावन चरण रखें इसलिए उन्होंने स्वामी जी को राजस्थानी राज्यों में परिभ्रमण का निमंत्रण दिया जिसे स्वामी जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। अब तक कई राजा-महाराजा भी उनके शिष्य बन चुके थे।

1881 में स्वामी पहले इंदौर नरेश के निमंत्रण पर इंदौर पहुंचे। तत्पश्चात् मुंबई होते हुए चित्तौड़गढ़ गए। वहां अपने उपदेशों का प्रकाश बिखेरने के बाद वह श्रावण बदी 13 को उदयपुर पहुंच गए।

उदयपुर में उनके कदम पड़ते ही राजा जी के मंत्रिमंडल व पुरोहितों ने उसका स्वागत किया। उदयपुर में प्रतिदिन स्वामी जी के प्रवचन हुआ करते थे। महाराजा राणा स्वयं प्रतिदिन वहां आकर उनका दर्शन करते तथा स्वामी जी की अमृतवाणी सुनते।

स्वामी जी ने राजा जी के साथ विचार-विमर्श किया और सारे राज्य के ठाकुरों के लड़कों के लिए एक पाठशाला खोलने का भी प्रबंध किया। किंतु इस बीच राजाजी अस्वस्थ हो गए और यह कार्य बीच में ही रह गया।

उदयपुर में ही स्वामी जी ने 'परोपकारिणी सभा' की स्थापना की और अपने द्वारा लिखित समस्त पुस्तकों के सर्वाधिकार इस सभा को दे दिए। उदयपुर में प्रवचन देने के बाद वह शाहपुरा आए। शाहपुरा में ही उन्हें महाराजा यशवंत सिंह का निमंत्रण पत्र मिला। यह पत्र महाराजा ने जोधपुर से लिखा था।

स्वामी जी ने यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया। किंतु स्वामी जी को चेतावनी स्वरूप आगाह किया गया, “स्वामी जी, आप जहां जा रहे हैं, वहां के राजा लोग भोग विलास में डूबे हुए हैं। वे लोग कठोर प्रकृति के हैं। कहीं ऐसा न हो कि आपके सत्य उपदेशों से चिढ़कर वे आपको कुछ हानि पहुंचाएं...”

यह सुनकर स्वामी जी बोले, “यदि लोग हमारी उगलियों को बत्ती बनाकर जला दें, तो भी कोई चिंता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्य उपदेश दूंगा।”

स्वामी जी का वेदांत प्रचार भारतवर्ष में दूर-दूर तक फैल चुका था। बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी उनके शिष्य बन चुके थे। राजस्थान के कई नरेश भी उनके अनन्य भक्त थे। 1883 ई. में स्वामी जी उदयपुर व जोधपुर पधारे।

उदयपुर में प्रवास के दौरान वहां के महाराज ने स्वामी जी का भव्य स्वागत किया। उन्होंने एक दिन स्वामी जी से निवेदन किया, “स्वामी जी, मेरा राज्य एकलिंग महादेव को समर्पित है। एकलिंग के इस मंदिर से करोड़ों की जायदाद जुड़ी हुई है। यदि आप मंदिर के महंत बन जाएं तो आपका भला तो होगा ही, मेरा भी भला होगा।”

महाराज की यह बात सुनकर स्वामी जी ने अपने क्रोध को नियंत्रित कर कहा, “राजन्! मैं आपके राज्य को एक दौड़ में ही लांघ सकता हूं। आपका राज्य मेरे लिए कुछ भी मूल्य नहीं रखता। मैं दिन-रात ईश्वर के उस राज्य में विचरण करता हूं जो अनंत है, असीम है।”

स्वामी जी के इन वचनों ने महाराज को स्तब्ध कर दिया। उन्होंने स्वामी जी से विनम्रता पूर्वक कहा, “स्वामी जी, मैं तो आपकी परीक्षा ले रहा था। सचमुच आप देवतुल्य हैं, जो मनुष्य करोड़ों की जायदाद को तुकरा दे, वह कदापि मनुष्य नहीं हो सकता।”

स्वामी जी का एक अनन्य भक्त था रामदास। उसने एक बार स्वामी जी से निवेदन किया, “स्वामी जी, आपका कोई स्मारक बनना चाहिए। आपके न रहने पर भी आपके भक्त और प्रेमी आपके उस स्मारक की पूजा करके आनंद प्राप्त किया करेंगे...”

उसकी बात सुनकर स्वामी जी बोले, “मैं तो स्वयं मूर्तियों और स्मारकों का विरोधी हूं, उनका खंडन करता हूं और तुम मेरी ही मूर्तियां बनवाओगे? मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरी भस्म को खेतों में बिखेर देना, वह खाद का काम करेगी। यही मेरा सच्चा व सार्थक स्मारक होगा।”

स्वामी जी एक दिन राजपूताना रियासत में भ्रमण कर रहे थे। वह जिस

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/75

किसी गांव में जाते वहीं उन्हें वृक्ष के नीचे एक चबूतरा सा दिखाई देता जिस पर फूल, अक्षत व बताशे रखे दिखाई देते। हर गांव में यही दृश्य देख उन्होंने एक व्यक्ति से पूछा, “यह चबूतरा किसका है और इस पर यह फूल-अक्षत क्यों रखे हुए हैं?”

उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, “यह चबूतरा देवी का है। गांव के लोग इसकी पूजा करते हैं। चबूतरे पर फूल, अक्षत और बताशे देवी को प्रसाद के रूप में चढ़ाए जाते हैं।”

स्वामी यह सुनकर सोचने लगे कि ये लोग बहुत आज्ञानी हैं, जो मिट्टी के चबूतरे को ही देवी समझते हैं। उन्होंने तुरंत गांव के लोगों की सभा की और उन्होंने समझाया, “आप लोग मिट्टी के चबूतरे को देवी समझकर पूजा करते हो। उस पर प्रसाद के रूप में फूल-बताशे चढ़ाते हो। मैं आपसे पूछता हूं कि क्या आपके बताशों को देवी स्वीकार करती है?... वह इन्हें स्वीकार नहीं करती, क्योंकि देवी चबूतरों में नहीं रहती। अतः आप लोगों को चबूतरों की पूजा करना छोड़ देना चाहिए और उन लड़कियों की पूजा करनी चाहिए जो सच्ची हैं और जीती जागती देवियां हैं...”

जोधपुर प्रवास

1893 ई. में स्वामी जी जोधपुर पधारे। जोधपुर महाराजा यशवंत सिंह जी की ओर से उनका भव्य स्वागत किया गया। वह स्वामी जी के अनन्य भक्त थे। जोधपुर आने के पश्चात् सत्रहवें दिन महाराजा स्वयं उनके दर्शन हेतु उपस्थित हुए। वह आकर फर्श पर बैठ गए और बोले, “आप हमारे स्वामी हैं और हम आपके सेवक... इसलिए आपके सामने नीचे आसन पर बैठने में ही हमारी शोभा है...”

किंतु स्वामी जी ने जोधपुर आने के दूसरे ही दिन प्रवचन देना प्रारंभ कर दिया था। प्रतिदिन हजारों लोग उनकी ज्ञान वर्षा का लाभ उठाते। स्वयं महाराज भी तीन बार स्वामी जी के दर्शनार्थ उनके आश्रम पर आए और स्वामी जी को अपने दरबार में आने का निमंत्रण दिया।

एक दिन स्वामी जी को ज्ञात हुआ कि महाराज ने नन्ही जान नामक एक वेश्या को रखा हुआ है। यह जानकर स्वामी जी अत्यंत दुःखी हुए। एक दिन वह बिना पूर्व सूचना दिए दरबार में जा पहुंचे। उस दिन महाराजा के समीप नन्ही जान भी मौजूद थी।

यह देख स्वामी जी ने महाराजा को कहा, “...राजन्! राजा लोग सिंह के

समान समझे जाते हैं। स्थान-स्थान पर भटकने वाली वेश्या कुतिया के सदृश है। वीर शार्दूल का कुतिया पर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है। आर्य जाति की कुल-मर्यादा के विपरीत है। केसरी की कंदरा में ऐसी कल्मष-कलुषित कुक्कुरी के आगमन का क्या काम है?... इस कुव्यसन के कारण धर्म-कर्म भ्रष्ट हो जाता है। मान मर्यादा पर बट्टा लगता है। इस पाप सोपान पर प्रथम पदार्पण करते ही पुनः पद-पद पर पुरुष का अधःपतन आप ही आप होता चला जाता है। इस दुर्व्यसन को तिलांजलि देनी चाहिए..."

स्वामी जी की बात सुनकर महाराजा अत्यंत लज्जित हुए। उन्होंने तुरंत नन्ही जान को पालकी में बैठाकर वापस भेज दिया। महाराजा ने उसी दिन से वेश्या-गमन का परित्याग कर दिया। नन्ही जान इस बात को जानती थी कि स्वामी जी के उपदेश वेश्या-गमन के विरुद्ध बहुत प्रभाव रखते हैं। साथ ही उसे यह भी पता चल गया कि स्वामी जी ने उसकी तुलना कुतिया के साथ की है। इन बातों से उसके कलेजे पर सांप लोटने लगे।

वह अत्यंत कुपित हो गई। उसने स्वामी जी की हत्या करने की ठान ली और उनके विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगी। स्वामी की देखरेख के लिए कल्लू कहार नामक एक नौकर भी रखा गया था। उसने सबसे पहले षड्यंत्र कर उसे वहां से भगा दिया। कल्लू जाते-जाते स्वामी जी का सामान भी चोरी कर ले गया।

नन्हीं जान ने अपने षड्यंत्र में एक मंत्री को भी शामिल कर लिया। उस मंत्री के सहारे नन्ही जान ने स्वामी जी के रसोइये जगन्नाथ को भी अपने साथ मिला लिया। उसने 30 सितंबर, 1883 ई. को जगन्नाथ को छः-सात सौ रुपए दिए और स्वामी जी के भोजन व दूध में विष मिलवा दिया।

रात्रि में स्वामी जी ने रसोइये से दूध लेकर पिया और सो गए। थोड़ी ही देर बाद विष ने अपना प्रभाव दिखा दिया। पेट में भयंकर पीड़ा हुई तो स्वामी जी की निद्रा भंग हो गई। उन्हें उदरशूल हो गया था। विष का प्रभाव धीरे-धीरे उनकी नस-नस में प्रवेश कर उनकी जीवन शक्ति का शोषण करने लगा था। उनका जी मिचलाने लगा और उन्हें तीन बार वमन भी हो गया।

सायं चार बजे स्वामी जी की बीमारी की सूचना महाराजा प्रतापसिंह को मिली। सुबह होने पर डॉक्टर को भी बुलाया गया, किंतु उसकी दवा का कोई लाभ नहीं हुआ। उन्हें एक-एक दिन में पचास-पचास दस्त होने लगे। स्वामी जी की दशा देखकर जगन्नाथ भी मन-ही-मन दुखी हुआ। उसे अपराध-बोध हुआ और पश्चाताप की अग्नि में जलते हुए उसने स्वामी जी के पास जाकर अपना

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/77

अपराध स्वीकार कर लिया। स्वामी जी जानते थे कि अपराधी का पता चलते ही महाराजा द्वारा उसे मृत्युदंड दे दिया जाएगा। जगन्नाथ के क्षमा मांगते ही स्वामी जी ने उसे क्षमा कर दिया। उन्होंने उसे तुरंत एकांत स्थान पर ले जाकर कहा, “लो! ये कुछ रुपए हैं। मैं तुम्हें देता हूं, तुम्हारे काम आएंगे और जैसे भी हो, राठौर राज्य की सीमा से बाहर हो जाओ। जाओ, चुपचाप भाग जाओ। यहां तुम्हारा जीवन संकट में है... लोगों को सच्ची बात का पता चले, उससे पहले ही तुम राज्य के बाहर चले जाओ। वरना लोग इस बात का पता चलते ही तुम्हें मार डालेंगे...”

स्वामी जी की सलाह पर जगन्नाथ रुपए लेकर नेपाल चला गया। 16 अक्टूबर तक स्वामी जी का इलाज चलता रहा। किंतु कोई लाभ नहीं हुआ। अतः कुछ दिनों बाद उन्हें आबू पर्वत पर भेजने का निर्णय लिया गया। महाराजा यशवंत सिंह और महाराजा प्रताप सिंह स्वयं उन्हें विदाई देने आए। उन्होंने स्वामी जी से कहा, “आपके इस रोग को मैं अपने ऊपर एक प्रकार का कलंक मानता हूं।”

इस पर स्वामी जी बोले, “राजन्, आप इसकी चिंता न करें। ईश्वर के विधान से जो होना निश्चित है, वह होकर रहेगा। रोग तो देह के साथ धूप और छाया की भांति लगे ही रहते हैं।”

स्वामी जी को पालकी में बैठाकर आबू पर्वत ले जाया जा रहा था। किंतु आबू पर्वत की चढ़ाई कठिन थी और मार्ग भी लंबा था, अतः स्वामी जी की बिगड़ती दशा देखकर उन्हें अजमेर भेजने का निर्णय लिया गया। स्वामी जी 26 अक्टूबर की सुबह अजमेर पहुंच गए। वहां उन्होंने जयपुर रोड स्थित भिनाय कोठी में अपना आश्रय बनाया।

स्वामी जी को अब तक दी गई चिकित्सा से कोई लाभ नहीं पहुंचा था। लेकिन चिकित्सकों के प्रयास जारी थे। कार्तिक कृष्ण पक्ष 14 को उनकी नाभि तक छाले उभरने लगे थे, गला बैठ गया था और शरीर ज्वाला सा तप रहा था। तब भी स्वामी जी नेत्र बंद कर ब्रह्मध्यान में लीन थे।

कार्तिक अमावस्या मंगलवार 30 अक्टूबर, 1883 को दीपावली का उत्सव था। उस दिन स्वामी जी का स्वास्थ्य थोड़ा ठीक होने लगा था। उनका गला भी सुधर गया था। उनके भक्त व शिष्य समझे कि यह उनके ठीक होने की पहली अवस्था है, किंतु स्वामी जी जानते थे कि उनके निर्वाण का समय आ चुका है। जिस प्रकार दीपक की बुझती हुई लौ अपने अंतिम समय में काफी तेजी से जलती है वैसे ही स्थिति स्वामी जी की थी। उनका स्वास्थ्य सुधार वास्तव में बुझते दीप की अंतिम ज्योति थी। इसलिए उन्होंने औषधियां लेने से भी इनकार

कर दिया।

शाम होने से पहले उन्होंने अपनी इच्छानुसार भोजन बनाने की आज्ञा दी। उन्होंने पके हुए भोजन में आए पकवानों को अपने भक्तजनों में बांट दिया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने नाई को बुलवाकर गीले तौलिये से अपने शरीर को पोंछने के लिए कहा। फिर वह शांतिपूर्वक पलंग के सहारे टेक लगाकर बैठ गए और अपने प्रिय शिष्यों के सिर पर हाथ रखकर बोले, “मैं इस नाशवान् क्षणभंगुर शरीर का अब परित्याग कर दूंगा। तुम अपने कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए आनंद से रहो। संसार में संयोग और वियोग का होना स्वाभाविक है।”

अब तक उनकी सांस की गति तेज हो चुकी थी। देह में छाले पड़ चुके थे, किंतु स्वामी जी अब भी शांत और प्रसन्नचित्त बैठे थे। शाम को साढ़े पांच बजे उन्होंने घर के सभी द्वार खुलवा दिए और वेदमंत्रों का उच्चारण करने लगे। शाम 6 बजे उन्होंने कहा, “हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान ईश्वर! सचमुच तेरी यही इच्छा है? हे परमात्मा देव, तेरी इच्छा पूर्ण हो। आह! आपने अच्छी लीला की।”

इतना कहकर उन्होंने ठीक 6 बजे सूर्यास्त के साथ-साथ प्राण त्याग दिए। उस समय वह 59 वर्ष के थे। यद्यपि उनकी पार्थिव देह का सूर्यास्त हो गया था किंतु जग में उनके ज्ञान का प्रकाश फैल रहा था। उन्होंने ज्ञान का ऐसा प्रकाशपुंज निर्मित किया जो युगों-युगों तक दमकता रहेगा और अपने ज्ञान से विश्व को मार्ग दिखलाता रहेगा। पाश्चात्य इतिहासकार जेम्स हेस्टिंग्स ने उन्हें ‘भारत के आध्यात्मिक पुनर्जागरण का मार्टिन लूथर किंग’ कहा था, किंतु वह भारत के सुकरात थे, जिन्होंने सत्य के पथ पर चलते हुए 16 बार विषपान किया, किंतु कभी अपने कर्तव्य-पथ से नहीं डिगे।

एक विलक्षण रचनाकार

स्वामी जी एक समाज-सुधारक, धर्म-सुधारक, राष्ट्र-प्रेमी तथा कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे। किंतु वह एक विलक्षण साहित्यकार व रचनाकार भी थे। उनकी मातृभाषा गुजराती थी, किंतु उन्हें अंग्रेजी भाषा का ज्ञान न के बराबर था। जबकि वह संस्कृत भाषा के अद्वितीय विद्वान थे। उनका उद्देश्य वैदिक धर्म, वैदिक शिक्षा तथा वैदिक दर्शन के अनुसार हिंदू धर्म व समाज को ढालना था, इसलिए उन्होंने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया। वह स्वयं को समय व परिस्थितियों के अनुसार ढालने में सक्षम थे। कालांतर में उन्होंने अरबी तथा अंग्रेजी भाषा को भी समझा ताकि वह अन्य धर्म साहित्यों का भी विवेचनात्मक अध्ययन कर सकें।

अपने वैदिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की, ताकि उनके द्वारा दिया गया ज्ञान स्थायी रूप से सभी के लिए उपलब्ध हो सके। बंगाल में केशवचंद्र सेन तथा देवेन्द्रनाथ ठाकुर के संपर्क में आने के बाद उन्होंने जाना कि भारत की अधिकांश जनता हिंदी भाषा जानती है, इसलिए स्वामी जी ने हिंदी भाषा सीखी। आर्यसमाज के माध्यम से स्वामी जी ने जिन सामाजिक व आर्थिक आंदोलनों का सूत्रपात किया, उन्होंने अपनी प्रवृत्तियों के द्वारा हिंदी भाषा के विकास को प्रोत्साहन दिया। इसलिए हिंदी गद्य व इतिहास के निर्माण में आर्य समाज की भूमिका महत्वपूर्ण कही जाती है।

स्वामी जी एक व्यावहारिक महापुरुष थे। वह देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुए अपने मत का प्रचार करते थे, अतः उन्होंने हिंदी भाषा की आवश्यकता को समझा, जो भारत में सर्वत्र बोली व समझी जाती रही है। इसलिए उन्होंने यह घोषणा भी की कि प्रत्येक आर्य समाजी के लिए हिंदी पढ़ना आवश्यक है। उन्होंने हिंदी को 'आर्यभाषा' अर्थात् समस्त देश की भाषा घोषित किया। उन्होंने आर्य समाज का समस्त साहित्य हिंदी में प्रकाशित करने पर जोर दिया। हिंदी के बल पर ही उन्होंने देश के विभिन्न भागों के निवासियों को वैदिक धर्म समझाया और उन्हें एक सूत्र में पिरोया।

स्वामी जी ने कई पुस्तकों की रचना की और कई मासिक पत्र-पत्रिकाएं भी प्रकाशित की। साथ ही उन्होंने कई प्रचलित पत्रिकाओं में भी हिंदी में लेख भी लिखे। आर्य समाज के विस्तार से हिंदी का भी विस्तार हुआ। उन्होंने अपनी निजी प्रेरणा से अपने साहित्य को लेखबद्ध कराया। उनकी कई छोटी-बड़ी रचनाओं ने साहित्य निर्माण में अपना योगदान दिया। यह स्वामी जी की हिंदी भाषा व साहित्य क्षेत्र में अद्वितीय सेवा थी।

आर्य समाज की स्थापना के साथ ही उन्होंने हिंदी भाषा में लिखना प्रारंभ किया। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना मूल रूप से हिंदी में ही की थी। हिंदी भाषा के महत्व को जानकर उन्होंने अपने कई ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद करवाया। इनमें 'वेदभाष्य' और 'संस्कार विधि' प्रमुख हैं।

स्वामी जी द्वारा रचित ग्रंथ इस प्रकार है:-

सत्यार्थ प्रकाश, वेदभाष्य, संस्कार विधि, अनुभ्रमोच्छेदन, अष्टाध्यायी भाष्य, आत्मचरित, आर्याभिविनय, आर्योद्देश्य, रत्नमाला, कुरान-हिंदी, गोकर्ण निधि, गौतम अहल्या की कथा, जालंधर की बहस, पंचमहायज्ञविधि (संध्या भाष्य), भाष्यार्थ, पोपलीला, प्रतिमा पूजन विचार, प्रश्नोत्तर हलधर, प्रश्नोत्तर उदयपुर, भ्रमोच्छेदन, मेला चांदपुर, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, ऋग्वेद भाष्य, यजुर्वेद भाष्य, वेदविरुद्ध मत खंडन, वेदातिध्वांत निवारण, व्यवहारभानु, शिक्षापत्री ध्वांत निवारण, संस्कृत वाक्य प्रबोध, सत्यासत्य विवेक, वर्णोच्चारण, सन्धि-विषय, नामिक, आख्यातिक, पारिभाषिक, सौवर, अनादिकोष, निघंटु, (पाणिनि के ग्रंथ अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, शिक्षा और प्रतिपादिक) तथा आलंकारिक कथा।

स्वामी जी द्वारा रचित ग्रंथों में 'सत्यार्थ प्रकाश' सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा चर्चित ग्रंथ है, जिसकी रचना उन्होंने अपने उदयपुर प्रवास के दौरान प्रारंभ की थी और 1874 ई. में मुंबई आने से पूर्व ही उसका प्रकाशन भी हो गया। इसे प्रकाशित करने का क्षेत्र राजा जयकृष्ण दास को जाता है। इन्होंने ही मुंबई में उसके दो अन्य ग्रंथ 'संस्कार विधि' तथा 'आर्याभिविनय' मुद्रित करवाकर दिए। इसी वर्ष स्वामी जी ने वेदभाष्य की रचना भी प्रारंभ कर दी थी।

'सत्यार्थ प्रकाश' को आर्य समाज का आधारभूत ग्रंथ माना जाता है, जिसमें स्वामी जी ने लगभग सभी विषयों पर प्रकाश डाला है। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और उन्होंने संस्कृत भाषा का गहन अध्ययन किया था। वह मथुरा में लंबे समय तक रहे थे। इस कारण उन्होंने ब्रजभाषा का ज्ञान भी अर्जित किया था। अतः इन तीनों भाषा का मिश्रण 'सत्यार्थ प्रकाश' में देखने को मिलता है। यह

बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/81

उनकी समन्वयात्मक दृष्टि का संकेत है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिंदी को साधन के रूप में अपनाया।

उनके वैदिक ग्रंथों में 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' उत्तम रचना मानी जाती है। इसमें स्वामी जी की मौलिकता व असाधारण योग्यता का पता चलता है। इन भाष्यों के हिंदी भाषा में भी अनुवाद किए गए। इन भाष्यों में यौगिक शैली की प्रधानता है। दयानंद की भाष्य-शैली की तुलना निरुत्तकार यास्क से की जाती है। अतः इसे हिंदी भाषा में वैदिक साहित्य की अमूल्य निधि माना जाता है।

'संस्कार विधि' में स्वामी जी ने हिंदुओं के सोलह वैदिक संस्कारों की परिपूर्ण व्याख्या की है। इस ग्रंथ से स्वामी जी की कच्ची हिंदी का आभास होता है। इसकी भाषा दर्शाती है कि तब तक उनका हिंदी से अच्छा परिचय नहीं था बल्कि वह संस्कृत के विद्वान थे, किंतु फिर भी हिंदी भाषा सुधार का प्रयत्न कर लिखते रहे।

अंततः उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना हिंदी में ही की। स्वामी जी ने भाष्य के संबंध में लिखा कि भाष्य में ज्ञान, कर्म, उपासना, कांड पर विचार नहीं किया जाएगा, क्योंकि दर्शन, उपनिषद तथा ब्राह्मण ग्रंथों में उनपर विचार किया जा चुका है। अतः भाष्य में केवल अर्थ ही दिए जाएंगे। इसलिए इस प्रभावशाली ग्रंथ को वेदभाष्य की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया।

'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में स्वतंत्र भाष्य कर जिन विषयों पर विचार किया गया उनमें शामिल हैं—वेदों का उद्गम, वेदों का अपौरुषेयत्व और सनातनत्व, वेदों का विषय, वेदों का वेदत्व, ब्रह्मविद्या, वेदों का धर्म, सृष्टिज्ञान, सृष्टिचक्र, गुरुत्व और आकर्षण शक्ति, प्रकाशक और प्रकाशित गणित, शास्त्र, मोक्षशास्त्र, नौ-निर्माण व वायु यान निर्माण कला, बिजली और ताप, आयुर्वेद विज्ञान, पुनर्जन्म, विवाह, नियोग, शासक और शासित के धर्म, वर्ण और आश्रम, विद्यार्थी के कर्त्तव्य, वानप्रस्थ के कर्त्तव्य, संन्यासी के कर्त्तव्य, पंच महायज्ञ, ग्रंथों का प्रामाण्य, योग्यता और अयोग्यता, शिक्षण और अध्ययन पद्धति, प्रश्नों और संदेहों का समाधान, प्रतिज्ञा, वेद संबंधी प्रश्नोत्तर, वैदिक शब्दों के विशेष नियम-निरुक्त, षेद और व्याकरण के नियम, अलंकार और रूपक।

स्वामी जी के वेदों के ज्ञान, प्रबल सुधारवाद, ओजस्वी व तेजोमय व्यक्तित्व, लेखन कर्म व प्रचार से हिंदी भाषा का अभूतपूर्व विकास हुआ। हिंदी के महत्व के साथ-साथ स्वामी जी ने अन्य भाषाओं को भी महत्व प्रदान किया। अपने संस्कृत संस्कार के कारण उन्होंने कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम तथा सामान्यतः

हिंदी में अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया जैसे - संयोगज, गति परिणामीपन, पुरश्चरण, अत्युधुक्त, प्राग्भावत्, परिच्छिन्न, पृथिवीकाय, आर्यवर्तस्था आदि। कहीं-कहीं उन्होंने ठेठ ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया जैसे- गपड़चौथ, टिक्की जमाई, भेंट-भटक्का आदि। उनकी पारिभाषिक भाषा दार्शनिकता तथा आध्यात्मिक सत्य से विकसित थी। इसी कारण से तार्किक हिंदी, व्यंग्यात्मक हिंदी का भी व्यापक विकास हुआ।

उन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी महाभाष्य व्याकरण के संदर्भ में हिंदी का प्रचार करते हुए एक विज्ञापन लिखा जिसका उद्देश्य वैदिक साहित्य को जनसाधारण के लिए सुलभ करना था—“वेद और प्राचीन आर्य-ग्रंथों के ज्ञापन के बिना किसी को संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं मिल सकता और इसके बिना मनुष्य जन्म का साफल्य होना दुर्घट है। इसलिए जो सनातन पाणिनीय अष्टाध्यायी महाभाष्य नामक व्याकरण है, उसमें अष्टाध्यायी सुगम संस्कृत, और आर्य भाषा में वृत्ति बनाने की इच्छा है।”

स्वामी जी भाषा से अधिक उसके भाव, मूल्य व महत्व को देखते थे। उनकी अपेक्षा भारत के प्रत्येक गांव व शहर में हिंदी को फैलाने की थी। हिंदी को व्यावहारिक तौर पर प्रयोग करने के बाद वह अपने पत्र व्यवहार भी प्रायः हिंदी में ही करने लगे थे। उन्होंने 7 अक्टूबर 1878 को श्याम जी कृष्ण वर्मा को लिखे एक पत्र में देवनागरी का महत्व दर्शाते हुए लिखा:

“अबकी बार भी वेदभाष्य के लिफाफे के ऊपर देवनागरी नहीं लिखी गई। जो कहीं ग्राम में अंग्रेजी न पढ़ा होगा तो अंक वहां कैसे पहुंचते होंगे और ग्रामों में देवनागरी पढ़े बहुत होते हैं। इसलिए अभी इसी पग के देखते ही देवनागरी जानने वाले मुंशी रख लें, नहीं तो किसी रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों का पता देवनागरी वालों से नागरी में लिखकर पास किया करें।”

उनके पत्र व्यवहार की भाषा पहले संस्कृत और बाद में बराबर हिंदी रहती थी, चाहे उत्तर अन्य भाषाओं में आते रहते थे। हिंदी के महत्व को समझाने के लिए उन्होंने मैडम ब्लावट्स्की तक से देवनागरी में पत्र व्यवहार का आग्रह किया, “जिस पत्र का हमसे उत्तर चाहें उसकी नागरी कराकर हमारे पास भेजा करें।”

उन्होंने कर्नल आल्कोट तक को हिंदी सीखने की प्रेरणा दी और उनकी प्रगति जानकर लिखा, “मुझे सुनकर खुशी हुई कि आपने नागरी पढ़ना आरंभ कर दिया है।”

वह समूचे भारत में हिंदी भाषा के प्रचलन का स्वप्न देखते थे। एक बार एक पंजाबी भक्त ने उनके समस्त ग्रंथों का अनुवाद पंजाबी में करने की अनुमति मांगी तो स्वामी जी ने कहा, “भाई, मेरी आंखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं, जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जाएंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस ‘आर्यभाषा’ को सीखना अपना कर्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।”

स्वामी जी ने कहा था...

- ◆ 'वेदों की ओर लौटो' का नारा देकर उन्होंने दर्शाया कि भारत की प्राचीन संस्कृति और चिंतन विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति और चिंतन में से एक है।
- ◆ सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। (आर्य समाज का चौथा सिद्धांत)
- ◆ सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है! (पहला सिद्धांत)
- ◆ सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए। (पांचवां सिद्धांत)
- ◆ सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए (पांचवां सिद्धांत)
- ◆ संतानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव रूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्यों और संबंधियों का मुख्य कर्म है। (तृतीय सम्मुलास, सत्यार्थ प्रकाश)
- ◆ राजनियम और जातिनियम होने चाहिए कि पांचवें या आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज दे। जो न भेजे, वह दंडनीय है।
- ◆ लड़कियों को भी लड़कों के समान पढ़ाना चाहिए।
- ◆ प्रत्येक कन्या का अपने भाई के समान यज्ञोपवीत संस्कार होना चाहिए।
- ◆ लड़कियों का विवाह न तो बाल्यावस्था में हो, न ही उनकी इच्छा के विपरीत हो।
- ◆ पुत्री भी अपने भाई के समान दायभाग में अधिकारिणी हो।
- ◆ विधवा को भी विधुर के समान विवाह का अधिकार हो।
- ◆ लड़का-लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है, क्योंकि एक-दूसरे के

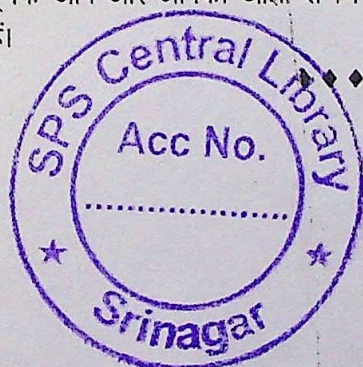
बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/85

प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है और संतान उत्तम होती है।

- ◆ जो दुष्ट कर्मकारी-द्विज को श्रेष्ठ और श्रेष्ठकर्मकारी-शूद्र को नीच माने, तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक क्या होगा। (सत्यार्थ प्रकाश)
- ◆ जो पक्षपात रहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वरज्ञा वेदों से अविरुद्ध है, उसको धर्म मानता हूं। (स्वमंतव्यामतंव्य प्रकाश)
- ◆ सत्यभाषण और सत्यचरण के अतिरिक्त धर्म का कोई दूसरा लक्षण नहीं है। (ऋग्वेदादिभाष्यं, धर्म लक्षण)
- ◆ धर्म का अनुष्ठान करें, सद्शास्त्रों को पढ़ें-पढ़ाएं, सत्यपुरुषों का संग करें और ओ३म परमात्मा के नाम का विचार पूर्वक जाप करें। आत्मा को परमात्मा के आज्ञानुसार समर्पित कर दें।
- ◆ जो ब्रह्म विमल, सुखकारक, पूर्ण काम सदा तृप्त और जगत में व्याप्त है वहीं सब वेदों में प्रारंभ है। जिसके मन में इस ब्रह्म की प्रकटता या यथार्थ ज्ञान है वही मनुष्य भगवान के आनंद का भागी है। वही सदैव सबसे अधिक सुखी है। ऐसा मनुष्य धन्य है। जो नर इस संसार में अत्यंत प्रेम, धर्म, विद्या, सत्संग, सुविचार, निर्वैरता, जितेंद्रियता आदि शुभ गुणों तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों में परमेश्वर का आश्रय लेता है वही सौभाग्यशाली है। वह सत्य विद्या के द्वारा संपूर्ण दुःखों से छूटकर परमानंद परमेश्वर का नित्य संग-मोक्ष प्राप्त करता है।
- ◆ जो परमात्मा सब के आत्मा, सत् चिद्, आनंदस्वरूप, अनंत, अज, न्यायकारी, निर्मल, सदादयालु, सर्वशक्तिमान और इष्टदेव हैं वे हमारी नित्य सहायता करें जिससे कठिन के कठिन कार्य संपादन में हम सफल हों।
- ◆ जिनके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही है, जो केवल चेतन है, अद्वितीय है, सर्व-शक्तिमान, निराकार, सर्वव्यापक, अनादि, अनंत, आदि-सत्य, अविनाशी, ज्ञानी, आनंदी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अज है तथा जिनका कर्म जगत की उत्पत्ति, पालन और विनाश है तथा समस्त जीवों को पाप पुण्य के अनुसार फल ठीक-ठाक पहुंचाना है, वे ही ईश्वर हैं।
- ◆ प्रत्येक मनुष्य को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट रहना चाहिए, परंतु सबकी

उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

- ◆ अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरांत उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर की सहायता लेने का नाम प्रार्थना है। अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण-ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यंत प्रीति प्रार्थना का फल है।
- ◆ जिससे ईश्वर ही के आनंद स्वरूप में अपने आत्मा को निमग्न करना होता है वह उपासना है।
- ◆ जिससे सब बुरे कर्म और जन्म-मरणादि दुख-सागर से छूट कर सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त कर जीव आनन्दमग्न हो जाता है वही मुक्ति है।
- ◆ जो सत्य का आचरण करता है वही ईश्वर को प्रिय है। सत्य सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है।
- ◆ वेद सभी सच्ची विद्याओं के भंडार हैं, वे ज्ञान की अनुपम निधि हैं। उनका स्वाध्याय करना-कराना सत्पुरुषों और आर्यों का कर्तव्य है। पुरुष-स्त्री, छोटे-बड़े सभी वेदाध्ययन के अधिकारी हैं।
- ◆ परमेश्वर की नित्य प्रति प्रार्थना और उपासना सबको अनन्य चित्त होकर अवश्य करनी चाहिए, जो मनुष्य नित्य प्रेमाभक्ति से ईश्वर की उपासना करते हैं, उन्हीं उपासकों को परम करुणामय अंतर्यामी परमेश्वर मोक्षरूपी सुख प्रदान कर सदा के लिए आनंद का भागी बनाते हैं।
- ◆ हे न्यायाधीश प्रभो! आप अपनी कृपा से मुझको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या, द्वेष, विषय-तृष्णा, निष्ठुरता आदि दुर्गुणों से मुक्त कर श्रेष्ठ कार्य में ही स्थिर करें। मैं अति दीन होकर आपसे यही मांगता हूँ कि आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूँ।



बहुमुखी क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानंद सरस्वती/87

